भेद में छिपा अभेद

युवाचार्य महाप्रज्ञ

प्रज्ञापर्व प्रवचन माला-4

संदर्भ : **योगक्षेमवर्ष**

सान्निध्य एवं प्रेरणा
आचार्य श्री तुलसी

प्रवचनकार
युवाचार्य महाप्रज्ञ

मुख्य संपादक
मुनि दुलहराज

संपादक
मुनि धनंजय कुमार

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज)

संस्करण 1991

ISB No. 81-7195-023-X

*सौजन्य : स्व० श्री दीपचन्दजी नखत (टमकोर) की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री भीखम चन्द नखत द्वारा— **जैनको बेयरिंग्स**, ५८, महात्मा गांधी रोड, सिकन्दराबाद, (आं०प्र०)*

मूल्य : पच्चीस रुपये

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं

मुद्रक : जे.के ऑफसेट प्रिन्टर्स, नागलोई

Bhed Men Chhipa Abhed— Yuvacharya Mahaprajna
Price : Rs. 25.00

आशीर्वचन

योगक्षेम वर्ष का अपूर्व अवसर। प्रज्ञा जागरण और व्यक्तित्व निर्माण का महान् लक्ष्य। लक्ष्य की पूर्ति के बहुआयामी साधन—प्रवचन, प्रशिक्षण और प्रयोग। प्रवचन के प्रत्येक विषय का पूर्व निर्धारण। अध्यात्म और विज्ञान को एक साथ समझने और जीने की अभीप्सा। समस्या एक ही थी—प्रशिक्षु व्यक्तियो के विभिन्न स्तर। एक ओर अध्यात्म तथा विज्ञान का क, ख, ग नहीं जानने वाले दूसरी ओर अध्यात्म के गूढ रहस्यों के जिज्ञासु। दोनों प्रकार के श्रोताओं को उनकी क्षमता के अनुरूप लाभान्वित करना कठिन प्रतीत हो रहा था। चिन्तन यही आकर अटक रहा था कि उनको किस शैली मे कैसी सामग्री परोसी जाए? नए तथ्यो को नई रोशनी मे देखने की जितनी प्रासगिकता होती है, परम्परित मूल्यो की नए परिवेश मे प्रस्तुति उतनी ही आवश्यक है।

न्यायशास्त्र का अध्ययन करते समय देहली दीपक न्याय और डमरुक मणि न्याय के बारे मे पढा था। दहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतर और बाहर को एक साथ आलोकित कर देता है। डमरू का एक ही मनका उसे दोनो ओर से बजा देता है। इसी प्रकार वक्तृत्व कला मे कुशल वाग्मी अपनी प्रवचन धाराओं मे जनसाधारण और विद्वान्-दोनों को अभिस्नात कर सकते है, यदि उनमे पूरी ग्रहणशीलता हो।

योगक्षेम वर्ष की पहली उपलब्धि है—प्रवचन की ऐसी शैली का आविष्कार, जो न सरल है और न जटिल है। जिसमे उच्चस्तरीय ज्ञान की न्यूनता नही है और प्राथमिक ज्ञान का अभाव नही है। जो निश्चय का स्पर्श करने वाली है तो व्यवहार के शिखर को छूने वाली भी है। इस शैली को आविष्कृत या स्वीकृत करने का श्रेय है 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचनमाला उक्त वैशिष्ट्य से अनुप्राणित है। इसकी उपयोगिता योगक्षेम वर्ष के बाद भी रहेगी, इस बात को ध्यान मे रखकर

प्रज्ञापर्व समारोह समिति ने महाप्रज्ञ के प्रवचनो को जनार्पित करने का संकल्प संजोया। '**भेद में छिपा अभेद**' उसका चौथा पुष्प है, जो ठीक समय पर जनता के हाथों में पहुंच रहा है।

जिन लोगों ने प्रवचन सुने है और जिन्होने नही सुने हैं, उन सबको योगक्षेम यात्रा का यह पाथेय चिन्तन की एक नई दृष्टि देता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

३१ अगस्त १९९१
जैन विश्व भारती
लाडनू (राज.)

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

सत्य को देखने की दृष्टि और परखने की कसौटी का नाम है अनेकान्त। अनेकान्त की घोषणा है — जितने वचन के पथ उतने नयवाद — सत्य को पकडने के दृष्टिकोण। प्रत्येक विचार एक नय है और वह है सापेक्ष। हमारी सत्याश को पकडने की प्रवृत्ति नही है। सत्याश को पूर्ण सत्य मानकर चलने की प्रवृत्ति बद्धमूल हो गई है। इसलिए हम एक विचार को सत्य मानते हैं और दूसरे को असत्य। सांप्रदायिक झगडो का यही मूल आधार है।

साप्रदायिक सद्भावना का स्वर्ण-सूत्र है अनेकान्त। अपने विचार के सत्याश को स्वीकार करो पर भिन्न विचार या दूसरे के विचार के सत्याश का खण्डन मत करो। भेद और अभेद — दोनो सापेक्ष है। उन दोनो को सापेक्षदृष्टि से देखो।

प्रस्तुत पुस्तक मे केवल अभेद अथवा समन्वय साधने का प्रयत्न नहीं है। इसमे भेद और अभेद — दोनो का यथार्थ दर्शन है। किसी भी सत्याश के प्रति अन्याय न हो, इसका सम्यक् प्रयत्न किया गया है।

आचार्य श्री तुलसी ने अनेकान्त की दृष्टि का स्वय प्रयोग किया है और मुझे भी वह दृष्टि दी है। मेरी धारणा मे इससे बडा कोई चक्षुदान नही हो सकता। मुनि दुलहराजजी प्रारभ से ही साहित्य सपादन के कार्य मे लगे हुए है। वे इस कार्य मे दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के सपादन मे मुनि धनजय कुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

१५ अगस्त १९९१
जैन विश्व भारती
लाडनूं

युवाचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

• सबहु सयाने एक मत — इस स्वर मे एक सचाई है और वह है अभेद चेतना की स्वीकृति।

• जितने व्यक्ति हैं, उतने विचार हैं। जितने विचार हैं उतने मत हैं — इस ध्वनि मे भी सत्य की प्रतिध्वनि है, जिसका हार्द है— भेद चेतना की स्वीकृति।

• एकमत-अनेकमत, सम्मत-विमत, सम्मति-विमति— ये कुछ शब्द हैं, जो व्यक्ति की भेदात्मक और अभेदात्मक चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं।

• मतभेद को रोका नही जा सकता।

जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता है, विचार की स्वतंत्रता है, वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है वहां मतभेद का न होना आश्चर्य है, होना आश्चर्य नहीं है। इसीलिए अनेक धर्म-संप्रदाय हैं, अनेक ग्रंथ और पंथ हैं, अनेक प्रवर्तक और विचारक हैं।

• प्रश्न है—

क्या मतभेद और विचार भेद समस्या है?
विचार भेद समस्या को जन्म क्यों देता है?
क्या संघर्ष का कारण विचार भेद है?
क्या भेद मे अभेद को खोजा नही जा सकता?

• हम विचार भेद को समझे किन्तु उसे समस्या न बनाए।

• जहा विचार भेद नहीं है वहां भी समस्या और संघर्ष हो सकते हैं।

जहां विचार भेद है वहां भी समस्या और संघर्ष से बचा जा सकता है।

• विचार भेद के साथ समस्या और संघर्ष का नियत अनुबंध नहीं है।

विचार भेद समस्या और संघर्ष का कारण भी हो सकता है, विकास और सृजन के नए द्वार भी खोल सकता है।

• हम विचार भेद को मतभेद का रूप न दे।

हम यह भी न सोचे– मेरा विचार ही सत्य है, उससे भिन्न विचार असत्य है। जब आग्रह और अभिनिवेश प्रबल बनता है तब विचार भेद समस्या, तनाव या संघर्ष का कारण बनता है।

• विचार की भिन्नता संघर्ष का मूल नहीं है।

हम दूसरे के विचार को सहे, उसे कुचलने, दबाने या झुठलाने का प्रयास न करें।

• विचार का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

उसे किसी सीमा विशेष में आवेष्टित करना न्यायोचित नहीं है।

हमारा दृष्टिकोण यह हो – प्रत्येक विचार एक सचाई है और इस सचाई का साक्षात्कार करना हमारा ध्येय है।

• वस्तुतः कोई भी विचार-भेद ऐसा नही है, जिसमें अभेद का सूत्र पकडा न जा सके। अपेक्षा है सापेक्षदृष्टिकोण बनाने की।

• भेद मे भी अभेद छिपा है और अभेद मे भी भेद अन्तर्हित है।

हम भेद में छिपे अभेद को प्रकाश मे लाएं और अभेद मे छिपे भेद को अनावृत करे।

• प्रस्तुत पुस्तक **भेद में छिपा अभेद** इस दिशा मे एक प्रस्थान है।

इसमे भेद और अभेद की सार्थक मीमांसा प्रस्तुत है, जिसकी आधार भूमि है विभिन्न धर्म-संप्रदाय, विभिन्न दर्शन, विभिन्न ग्रन्थ, विभिन्न साधना पद्धतियां और विभिन्न व्यक्तित्व।

• दो भिन्न दिशाओं में गति करने वाले भी एक बिन्दु पर मिल जाते हैं और दो समान धारा में चलने वाले भी समानांतर रेखा की भांति कही नही मिलते।

प्रस्तुत ग्रथ की विषय-वस्तु मे इस तथ्य पर सशक्त हस्ताक्षर हैं।

• प्रस्तुत पुस्तक तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त व्यक्तियों को एक नई दिशा की ओर अभिप्रेरित करती है।

इसमे उपलब्ध है तुलनात्मक अध्ययन की एक अभिनव संकेत-लिपि।

• इस ग्रंथ के प्रणेता हैं युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ।

अनेकान्त के आलोक में शाश्वत और सामयिक सचाइयों को अनावृत करने वाला महाप्रज्ञ का यह उपक्रम एक महान् अवदान है, जिसमें एक ओर बिखरी हुई सचाइयों को एक स्थान पर सहेजा गया है तो दूसरी ओर विचार भेद-जनित समस्या, तनाव एव संघर्ष की समाप्ति के मार्ग निर्देशक तत्व संदर्शित हैं, विचार भेद से प्रस्फुटित होने वाली विकास और सृजन की अभिप्रेरणा की प्रस्तुति है।

• विश्वास है– विचार के विभिन्न स्रोतो का उद्घाटन करने वाला महाप्रज्ञ का यह मौलिक सृजन वैचारिक समस्या से दिग्भ्रान्त बने मनुष्यो को समाधान की राह देगा, तुलनात्मक अध्ययन की एक नई धारा का सूत्रपात करने मे सफल प्रयत्न सिद्ध होगा।

मुनि धनंजय कुमार

२१ अगस्त ९१
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज.)

क्रम

विचार

दर्शन

ध्यान-योग

व्यक्तित्व

विचार

धर्म और राजनीति

मूल्य का अपकर्ष

आज सामान्य आदमी की सोच एवं अवधारणा मे राजनीति और धर्म – दोनो के मूल्य का अपकर्ष हुआ है। धर्म और राजनीति–दोनो समाज के लिए अत्यंत अनिवार्य है। राजनीति के बिना समाज या राज्य की व्यवस्था नही चल सकती और धर्म के बिना किसी भी व्यक्ति की सुखद व्यवस्था नही हो सकती। बहुत कम लोग ऐसे हुए है, जिन्होंने राजनीति पर स्वतंत्र रूप से चिन्तन-मंथन किया है। पाश्चात्य देशो में राजनीति पर बहुत चिन्तन किया गया।

प्रश्न है–राजनीति का लक्ष्य क्या है? प्राचीन यूनानी दार्शनिको ने कहा– राजनीति का लक्ष्य है नैतिक समाज की स्थापना। किन्तु इन तीन-चार शताब्दियो मे राजनीतिज्ञो ने इस अवधारणा को पूरा स्थान नही दिया। उनकी अवधारणा मे राजनीति का लक्ष्य रहा–समाज मे सुख बढे, दुःख दूर हो। भारतीय संविधान मे कहा गया–प्रत्येक नागरिक को सुख एव शाति की गारन्टी दी जाए। यदि हम धर्म और राजनीति पर स्वतत्र दृष्टि से विचार करे तो इन दोनो के संदर्भ मे स्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत होगा।

धर्म और राजनीति का कार्य

राजनीति का काम है–समाज की रचना या राज्य की स्थापना। धर्म का काम है – व्यक्ति का निर्माण। धर्म कभी समाज की रचना नही कर सकता। हालांकि स्मृतिकारो ने समाज की स्थापना का प्रयास किया है किन्तु उनका धर्म मोक्ष-धर्म से जुडा हुआ नही है। स्मृतिकारो ने कहा– राज्य की स्थापना तभी सभव है, जब उसके साथ दण्डनीति भी हो। जहा दड की व्यवस्था नही होती, वहां समाज की स्थापना नही हो सकती। यह अतीत का सत्य रहा है और इसे वर्तमान युग की

सचाई भी मान लेना चाहिए। यदि हम ऐसे युग का निर्माण कर सकें, ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकें, जिसमें समाज इतना अनुशासित हो जाए कि दंड-शक्ति की अपेक्षा समाप्त हो जाए। इस स्थिति मे ही हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाज अनुशासित हो सकता है।

समस्या : कारण

समस्या यह है – भिन्न भिन्न विचार के लोग है, भिन्न-भिन्न प्रकार के मस्तिष्क है। मानव-मस्तिष्क का विश्लेषण करें तो मस्तिष्क की अनेक श्रेणिया प्रस्तुत हो जाती है। मस्तिष्क को संक्षेप में पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

१. अति-विकसित।
२. विकसित।
३. अल्प-विकसित।
४. अर्द्ध-विकसित।
५. अ-विकसित।

ऐसे लाखों आदमी है, जिनका मस्तिष्क सर्वथा अविकसित है। उनके लिए कोई शब्द काम नही करता, धर्म का उपदेश काम नहीं करता। वे कुछ भी सुनने के लिए तैयार नही होते। जो सुनते है, उसे समझ नही पाते। लाखो लोग अर्द्ध-विकसित दिमाग वाले है। अल्प-विकसित और विकसित दिमाग वालो की सख्या भी कम नही है। बहुत कम लोग ऐसे है, जिनका मस्तिष्क अति-विकसित है। अपनी मस्तिष्कीय क्षमताओ का अधिकतम उपयोग करने वाले व्यक्तियो की संख्या नगण्य ही है।

कानून और व्यवस्था की अनिवार्यता

जिस समाज मे जीने वाले व्यक्ति विभिन्न श्रेणियो मे बंटे हुए हैं, उस समाज को हृदय-परिवर्तन या धर्म के द्वारा संचालित करने की कल्पना भी एक अतिकल्पना जैसी लगती है। प्रश्न है–धर्म के द्वारा समाज कब संचालित होता है? जहां अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया और अल्प लोभ हो, इस प्रकार अल्प कषाय की मानसिकता का निर्माण हो, वहां धर्म द्वारा समाज सचालित हो सकता है,

हृदय-परिवर्तन काम कर सकता है। आदिम युग मे एक समय ऐसा था, जब राज्य और राजनीति नही थी, किन्तु सब लोग स्वतः अनुशासित थे। उस समय न कोई छीना-झपटी होती थी, न अपराध और चोरियां होती थी। इसका कारण यह था– उस समय आवश्यकताए अल्प थी और पदार्थ अनत। इस स्थिति मे हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाज की व्यवस्था चल सकती है। जहा आवश्यकताएं बढ जाए, आवश्यकता के स्रोत कम हो जाएं, पदार्थ की खपत ज्यादा हो जाए, उपभोक्ता बढ जाए, वहां हृदय-परिवर्तन द्वारा समाज को शासित किया जा सके, यह सभव नही लगता। जहा चोरी, छीना-झपटी आदि समस्याएं उभरती रहती है, वहा कानून और व्यवस्था की अनिवार्यता को नकारा नही जा सकता। इस स्थिति मे राजनीति और राज्य-व्यवस्था का विकल्प ही समाधान बनता है।

राजनीति : लक्ष्य की रेखाएं

राज्य की स्थापना के साथ यह लक्ष्य जुडा रहता है– समाज मे सुख एवं शाति रहे। समाज को सुख मिले, सुविधा के साधन उपलब्ध हो। समाज में अपराध न हो, कलह और छीना-झपटी न हो। बडे लोग छोटो पर अन्याय न करे। राजनीति के सामने लक्ष्य की ये रेखाए रहती हैं और इन रेखाओ के आधार पर राजनीति के द्वारा राज्य की स्थापना होती है। इन लक्ष्यो के अनुरूप समाज निर्माण के प्रयत्न चलते हैं। यह स्पष्ट है–जहां राजनीति है वहा व्यक्ति का प्रश्न नहीं हो सकता, हृदय-परिवर्तन का प्रश्न नही हो सकता। राजनीति के सामने दूर तक जाने वाली नैतिकता का प्रश्न भी नही होता। राजनीति के साथ नैतिकता का प्रश्न उपयोगिता से जुडा हुआ है। उपयोगितापरक नैतिकता राजनीति के क्षेत्र मे अवश्य उपलब्ध हो सकती है। यदि हम वर्तमान राजनीति के साथ विशुद्ध नैतिकता का प्रश्न जोडना चाहे तो शायद वह संभव नही है।

राजनीति और नैतिकता

कुछ पाश्चात्य चिन्तको ने राजनीति का नैतिकता के साथ विचार किया है। कुछ भारतीय चिन्तको ने राजनीति का धर्म के साथ संबंध

जोडने का प्रयत्न भी किया है। एक ओर राजनीति है तो दूसरी ओर धर्म एवं नैतिकता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि राजनीति का नैतिकता और धर्म के साथ सापेक्ष संबंध ही माना जा सकता है। उनमें कोई अनिवार्य संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। जहां राजनीति है वहां धर्म की अनिवार्यता है, नैतिकता की अनिवार्यता है, ऐसा नही माना जा सकता और ऐसा हो भी नहीं सकता। इनमें सापेक्ष संबंध ही हो सकता है। धर्म के सामने समाज जैसा कोई शब्द ही नहीं है। उसके सामने प्रश्न है व्यक्ति का। वास्तव मे व्यक्तिवाद धर्म की एक महत्त्वपूर्ण देन है। आज राजनीति के क्षेत्र में भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मूल्य बढ़ा है पर मूलतः यह कोई राजनीति का प्रश्न नहीं है। यह धर्म का प्रभाव है। जहां व्यक्ति-स्वातंत्र्य नही होगा वहां राज्य कैसे अच्छा चलेगा? जो राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का उपहरण करे, वह अच्छा हो नहीं सकता। जब से लोकतंत्र चला है, लोकतंत्र की राजनीति रही है, तब से उसमे जाने-अनजाने धर्म के कुछ सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए हैं।

स्वतंत्रता का प्रश्न

व्यक्ति की स्वतंत्रता, वाणी की स्वतंत्रता, लेखन की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—ये सारे सिद्धान्त धर्म के प्रभाव से स्वीकृत हुए है। स्वतंत्रता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वतत्रता देना राजनीति का कार्य नहीं है। राजनीति का कार्य है स्वतंत्रता को सीमित करना। समाज की व्यवस्था के लिए स्वतत्रता को सीमित करना अनिवार्य बन जाता है। यह राजनीति की भाषा नही है—व्यक्ति की जो इच्छा हो, वह करे और जो इच्छा नही है, उसे न करे। व्यक्ति की इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न राजनीति मे मुख्य नही है। धर्म के क्षेत्र मे कहा जाता है—व्यक्ति की इच्छा हो तो त्याग या व्रत ले। उसकी इच्छा न हो तो त्याग की बात को अस्वीकार कर दे। यह इच्छा का स्वातंत्र्य धर्म की भाषा मे स्पष्ट है लेकिन राजनीति की भाषा मे इसका कोई मूल्य नही है।

धर्म और राजनीति : मूल सूत्र

धर्म का मूल सिद्धान्त है – स्वतंत्रता और राजनीति का मूल सूत्र है– दण्ड का शासन। किन्तु धर्मविहीन कोई भी राजनीति अच्छी नहीं हो सकती। हमें धर्म और राजनीति में सापेक्ष संबंध स्वीकार करना होगा। राजनीति में स्वतंत्रता के सिद्धान्तों की जो स्थापना हुई है, उनका जो विकास हुआ है, उसमें धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वर्तमान स्थिति यह है–जो राज्य अपने नागरिकों को स्वतंत्रता नहीं देता, वह एक अलग खेमे में माना जाता है, पूरी दुनिया से अलग-थलग पड़ जाता है। हम अधिनायकवादी युग को देखें। वह कितना विचित्र युग था। उस शासन में इतनी क्रूरता थी कि लाखो आदमियो को भून डालना एक सामान्य बात थी। उस युग की कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो जाता है। आज अधिनायकवाद में जकडे देशों की स्थितियां बदल रही हैं। उस लोहावरण से छनकर जो आ रहा है, वह सवको आश्चर्य में डाल रहा है। जनता ने यह अनुभव कर लिया है–स्वतंत्रता के बिना जो जीवन जिया, क्रूर शासकों के जो अत्याचार सहे, वे जीवन के काले दिन थे। आज वे ग्लासनोस्त और पेरोस्रोइका की दिशा मे आगे वढ रहे हैं।

राजनीति पर प्रभाव

यह एक तथ्य है–धर्म का राजनीति पर प्रभाव रहता है। धर्म के मूल सिद्धान्तो को छोडकर जो राजनीति चलेगी, वह ज्यादा टिक नही पाएगी। जैसे मोक्ष के लिए धर्म एक परम सिद्धान्त है वैसे ही समाज-व्यवस्था के लिए राजनीति एक परम सिद्धान्त है। वहुत सारे लोग राजनीति को वदनाम करते हैं। अनेक व्यक्ति आलोचना की भाषा मे कहते हैं–आजकल सव जगह राजनीति चलती है। राजनीति का चलना कोई वुरी वात नही है। जीवन के लिए भोजन जितना अनिवार्य है, समाज-व्यवस्था के लिए राजनीति उतनी ही अनिवार्य है। राजनीति द्वारा सचालित राज्य अच्छा होता है, राजनीति अच्छी होती है, तव भोजन, पानी, मकान आदि प्राथमिक व्यवस्थाए उपलव्ध होती है। यदि राजनीति अच्छी नही है, राजनीति का दर्शन अच्छा नहीं है तो

राज्य की व्यवस्था भी अच्छी नही होगी। राज्य की व्यवस्था अच्छी नहीं होगी तो समाज-व्यवस्था अच्छी नहीं होगी, जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं सब लोगों को समान रूप से उपलब्ध नही हो पाएंगी। समाज में अव्यवस्था फैलेगी, आपाधापी चलेगी, समृद्ध लोग कमजोर लोगों को निगलते रहेंगे।

सापेक्ष है प्रभाव

हम इस सचाई को समझें—राजनीति समाज की व्यवस्था का एक पवित्र सिद्धान्त है। उसमें धर्म का सापेक्ष प्रभाव है। धर्म के प्रभाव से निरपेक्ष होकर कोई भी राज़नीति अच्छी नहीं चल सकती, हालाकि राजनीति के कुछ अपने मौलिक सिद्धान्त हैं और वहां धर्म की बात मान्य नहीं हो सकती। यदि राजनीति मे सर्वत्र धर्म का सिद्धान्त व्याप्त हो तो धर्म और राजनीति को दो मानने की जरूरत ही नहीं होगी। जहां धर्म और राजनीति को एक बना दिया जाता है, वहा न धर्म रहता है और न राजनीति। धर्म का लक्ष्य है आत्मा को पाना। जो लोग ईश्वर में विश्वास करते है, उनकी भाषा मे ईश्वर को पाना ईश्वरीय संदेशो को स्वीकार करना है। वीतराग के मार्ग पर चलना धर्म का परम कर्तव्य है। इसमें समाज-व्यवस्था आडे नहीं आएगी। जहां कही भी केवल धर्म के आदेशो पर समाज को चलाया जा रहा है वहा धर्म और समाज-व्यवस्था में तालमेल नहीं हो पाया है। वर्तमान युग की धारणाएं बदल गई हैं। समस्याए जटिल बन गई हैं। इस स्थिति मे धर्म के डेढ हजार वर्ष पुराने अनेक आदेश अप्रासगिक हो गए हैं। वे आज की सामयिक समस्याओं के सदर्भ मे संगत नही लग रहे हैं। आजकल परिवार-नियोजन पर बल दिया जा रहा है। बढती आबादी की समस्या, खाद्य की समस्या आदि को देखते हुए परिवार-नियोजन को महत्त्व मिल रहा है। धर्म में परिवार-नियोजन मान्य नही है। यह एक बडा द्वन्द्व है और इसका कारण है—दो हजार वर्ष पहले जो सामयिक व्यवस्थाएं दी गई थीं, वे आज उपयोगी नही रही हैं।

शाश्वत और सामयिक मूल्य

कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं और कुछ सामयिक। इस संदर्भ मे

आचार्य भिक्षु ने जो चिन्तन दिया, वह धर्म और राजनीति के सबंध के परिप्रेक्ष्य मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भिक्षु ने कहा—सामयिक नियम और व्यवस्था को सामयिक मूल्य देना चाहिए। शाश्वत नियम और व्यवस्था को शाश्वत मूल्य देना चाहिए। धर्म सामयिक नियम या व्यवस्था नही है। वह जीवन का शाश्वत मूल्य है। ''अहिंसा धर्म है''— यह शाश्वत सचाई है। इसका अतीत में भी मूल्य रहा है। यह वर्तमान मे भी मूल्यवान है और भविष्य मे भी इसका मूल्य बना रहेगा। धर्म का काम है शाश्वत मूल्यो का जीवन में अवतरण करना। राजनीति मे कभी कोई शाश्वत मूल्य नही होता। हम राजनीति और धर्म के नियमो को मिलाए नहीं, किन्तु जिसका जितना मूल्य है उसे उतना मूल्य दे। यह अपेक्षित अवश्य है— राजनीति के नियमों पर धर्म के नियमो का प्रभाव रहना चाहिए। धर्म और राजनीति के इस सापेक्ष सबध का हम समुचित मूल्यांकन करे तो वर्तमान की बहुत सारी समस्याओ का समाधान मिल सकता है। केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, अनेक देशो मे समस्याए उलझती जा रही हैं। शाश्वत और सामयिक मूल्यो की सही समझ उनके समाधान का एक ज्योतिदीप बन सकती है और उससे समाज को एक नया प्रकाश मिल सकता है।

उत्तराध्ययन और धम्मपद

एक बार कुएं की मुंडेर पर एक राजहंस आ बैठा। कुएं के अंदर एक मेंढक क्रीड़ा कर रहा था। उसने देखा—एक अजनबी पक्षी कुएं की मुंडेर पर बैठा है। मेंढक राजहंस को देखकर बोल उठा—

रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशाल
किं मद्धाम्नोपि बाढं न हि न हि महत् पाप मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थं कूपोदरस्थः सपदि तटगतो दर्दुरो राजहंसं,
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषयाः नापरे येन दृष्टाः।।

कूपमण्डूकता

मेंढक ने राजहंस से पूछा—तुम कौन हो? कहां से आए हो?

मैं राजहंस हूं, मानसरोवर से आया हूं।

तुम्हारा मानसरोवर कितना विशाल है?

बहुत विशाल है हमारा मानसरोवर।

मेंढक ने एक छलांग लगाई, पूछा—क्या इतना बड़ा है?

नहीं, इससे बहुत बड़ा है।

मेंढक ने एक लम्बी छलांग लगाई, क्या इतना बड़ा है?

नहीं, इससे भी बहुत बड़ा है।

मेंढक ने पूरे कुएं की परिक्रमा की, क्या इतना बड़ा है?

नहीं, इससे भी बड़ा है।

मेंढक ने कहा—तुम झूठ बोलते हो? तुम्हारी बात मिथ्या है। मेरे घर से बड़ा तुम्हारा मानसरोवर हो नहीं सकता।

राजहंस ने सोचा—अब यहां ठहरना अच्छा नही है। जिसने कुएं को ही देखा है, बाहर की जो विशाल दुनिया है, उसका जिसे पता नहीं है, वह अपने घर को ही वडा मानेगा। उसके लिए दुनिया में उससे वडा कोई घर नहीं है।

कवि कहता है—जो नीच व्यक्ति होता है, वह थोड़े में ही अहंकार से भर जाता है।

सीमा से परे

जिसने दुनिया को नहीं देखा है, उसे अपना घर ही सबसे बड़ा लगता है। यह कूपमण्डूकता की बात सारे संसार में चलती है। धर्म का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। बहुत सारे लोग ऐसे हैं, जो कुएं से बाहर कभी जाते ही नहीं हैं। वे यह नहीं मानते —हमारे से बड़ा भी कोई हो सकता है, किन्तु कुछ आध्यात्मिक व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने सचाई को आकाश की भांति अनन्त रूप में स्वीकार किया है। 'विशाल ज्ञानराशि को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता'—यह सचाई जिस व्यक्ति के सामने स्पष्ट होती है, वह सीमा से परे की बात भी सोचता है।

दो परम्पराएं : दो ग्रंथ

हम इस सचाई के संदर्भ में दो परंपराओं का विश्लेषण करें। एक है बुद्ध की परम्परा, दूसरी है महावीर की परंपरा। बुद्ध की परंपरा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—धम्मपद और महावीर की परंपरा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—उत्तराध्ययन। हम इन दोनो ग्रन्थों को पढ़ें तो ऐसा लगेगा—उत्तराध्ययन के रचयिता ने धम्मपद से लिया है या धम्मपद के रचयिता ने उत्तराध्ययन से लिया है। दोनों ग्रन्थों को देखने पर बड़ी असमंजस की स्थिति सामने आती है। दोनो ग्रन्थों में तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री भरी पडी है।

आचार्यश्री ने संवत् २०२० का चातुर्मास लाडनूं में किया। उस समय 'उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन'—ग्रन्थ लिखा जा रहा था। लेखन के संदर्भ मे एक प्रस्ताव आया—उत्तराध्ययन, धम्मपद और महाभारत—तीनो का तुलनात्मक अध्ययन एक निबंध में प्रस्तुत किया जाए किन्तु जब तीनो ग्रन्थो का पारायण किया गया तो लगा। [illegible] हम लिखना चाहते थे एक अध्याय और लिखा जा [illegible] ग्रन्थ। इतनी समान बातें, समान पद, समान भाषा और [illegible] तुलना करें तो एक पूरा ग्रन्थ [illegible]

अलगाव कहां है?

सब धर्म समान हैं, यह स्वर निरंतर सुना जाता है। जब आचार्यवर ने ब्अणुव्रत की अचार-संहिता प्रस्तुत की तब सनातन धर्म के लोगों ने कहा — यह तो हमारी आचार-संहिता है। ईसाई धर्म के अनुयायियों ने कहा — यह हमारी आचार-सहिता है और मुस्लिम भाइयों ने कहा—यह हमारी आचार-संहिता है। सब धर्मो के लोगो ने इस आचार-संहिता को अपनाया, स्वीकार किया और इस दृष्टि से स्वीकार किया कि यह हमारी ही आचार-संहिता है।

प्रश्न होता है—जब अहिंसा, सत्य आदि का प्रत्येक धर्म में समान मूल्य है तो इतने धर्म क्यों? जब सब धर्म इन बातों को समान रूप से स्वीकार करते हैं तो धर्मो मे अलगाव की बात क्यो? सब धर्म एक क्यो नहीं हो जाते? जब तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है—अलगाव कहां है? यह प्रश्न नहीं होता—समानता कहां है? किन्तु यह प्रश्न सामने आता है—भेद कहां है? प्रश्न भेद का है, समानता का नहीं। अहिंसा आदि तत्त्व समान हैं, यह आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात है भेद का होना। जो मनीषी व्यक्ति हैं, वे भेद को खोजें, आश्चर्य को खोजे।

अहिसादीनि तत्त्वानि, समानानि न विस्मयः।
विशेषो विस्मयस्थानं, सोऽन्वेष्टव्यो मनीषिणा।।

प्रश्न है पहुंच का

एक विद्वान् व्यक्ति का काम क्या है? वस्तुतः तुलना करना, समानता खोजना बहुत महत्त्व का काम नहीं है। समानता के तत्त्व बहुत हैं, उन्हें आसानी से खोजा जा सकता है किंतु भेद को खोजना बहुत महत्त्व की बात है। एक मनीषी व्यक्ति के लिए करणीय है—भेद की खोज। यह बात असंगत लग सकती है, किंतु है बहुत महत्त्वपूर्ण। अभेद को खोजना कोई नई बात नही है, कोई विशेष बात नही है। जहां सत्य की खोज होगी, वहां अभेद तो होगा ही। पर खोजना है भेद को। यह भेद या विशेष ही आश्चर्य का कारण है। मनीषी व्यक्ति यह खोजे—कौन व्यक्ति कहां तक पहुंचा है? महावीर सत्य की खोज मे कहा तक पहुंचे? बुद्ध सत्य की खोज में कहा

तक पहुचे? ईसा और मोहम्मद साहिब कहा तक पहुंचे? गांधी और मार्क्स कहां तक पहुंचे? आचार्य भिक्षु कहा तक पहुंचे? प्रश्न है पहुंच का। हिमालय की यात्राएं बहुत लोग करते हैं। हिमालय हिमालय है। यह खोज नहीं होती कि हिमालय की खोज कितने लोगो ने की, किंतु खोज का प्रश्न होता है—हिमालय की एवरेस्ट चोटी पर कितने लोग पहुंचे? कितने लोग उससे नीचे की चोटी तक ही पहुंच पाए? हम यह खोज करेंगे तो सारा दृष्टिकोण बदल जायेगा।

कथा के चार प्रकार

जैन आगमो मे चार प्रकार की कथाओ का उल्लेख मिलता है—

- आक्षेपणी—ज्ञान और चारित्र के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा।
- विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा।
- संवेजनी—जीवन की नश्वरता, दुःख-बहुलता तथा शरीर की अशुचिता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा।
- निर्वेदनी—कृत कर्मों के शुभाशुभ फल दिखलाकर संसार के प्रति उदासीन करने वाली कथा।

विक्षेपणी कथा

दूसरी कथा है विक्षेपणी कथा। इसके भी चार प्रकार हैं—

- एक सम्यक् दृष्टि व्यक्ति अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कर फिर दूसरो के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।
- दूसरो के सिद्धांत का प्रतिपादन कर फिर अपने सिद्धांत की प्रस्थापना करता है।
- सम्यक्वाद का प्रतिपादन कर मिथ्यावाद का प्रतिपादन करता है।
- मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर फिर सम्यक्वाद की प्रस्थापना करता है।

विक्षेपिणी कथा करने वाला अपने सिद्धांत का प्रतिपादन भी करता है, दूसरो के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी करता है। इसका अर्थ है—तुलनात्मक अध्ययन। तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा नई विकसित हुई है, किन्तु हमारे लिए यह नई नही है। आचार्य का एक विशेषण आता है—स्वसमय-परसमयविद। इसका अर्थ है—आचार्य को स्वसमय—अपने

स्वीकृत सिद्धान्तों तथा परसमय – अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों का जानकार होना चाहिए। यदि आचार्य परसमय को नहीं जानता है तो समस्या प्रस्तुत हो जाती है। कोई व्यक्ति परसमय—दूसरों के सिद्धांत का प्रश्न पूछ ले और आचार्य उसका समाधान न दे सके तो अच्छा नहीं लगता। भगवान् महावीर ने परसमय का बहुत प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर दूसरों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कथा का एक प्रकार है—पहले परसमय का प्रतिपादन करना और उसके बाद स्वसमय—अपने सिद्धान्त की स्थापना करना। यह प्रकार भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

विषय तुलनात्मक अध्ययन का

हम उत्तराध्ययन को पढ़ें, धम्मपद को पढ़ें तो बहुत सारी बातें समान मिलेंगी। बुद्ध ने अनित्यता का प्रतिपादन किया। महावीर ने भी अनित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बारह अनुप्रेक्षाओं में एक अनुप्रेक्षा है—अनित्य अनुप्रेक्षा। उत्तराध्ययन में कहा गया— जन्म दुःख है, रोग दुःख है, बुढ़ापा और मृत्यु दुःख है। धम्मपद भी यही कहता है। ये समान बातें हैं। इनमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

प्रत्येक घर में प्रतिदिन जो भोजना बनता है, वह सामान्य भोजन होता है। प्रत्येक घर में फुलका बनता है, साग-सब्जी बनती है, रोटी बनती है। यह एक सामान्य परंपरा है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है किंतु जब कोई विशेष अवसर होता है, घर में फंक्शन होता है तब पकवान बनते हैं, तरह-तरह की मिठाइयां बनती.हैं। अनेक लोगों को आमंत्रित किया जाता है। जब सामान्य भोजन बनता है तब दूसरे लोगों को भोजन पर नहीं बुलाया जाता। जब विशिष्ट भोजन बनता है तब अतिथियो को बुलाया जाता है या जब कोई अतिथि आता है तब विशेष प्रकार का भोजन बनता है। सामान्यतया हर घर में प्रतिदिन दाल-रोटी बनती है। प्रत्येक आदमी कहता है—बस, दाल-रोटी चाहिए। दाल-रोटी मिल गई तो सब कुछ मिल गया। हमें दाल-रोटी में ही संतोष है।

हर धर्म की दाल-रोटी है—अहिंसा और सत्य। किसी को मत मारो, किसी को मत सताओ, झूठ मत बोलो। प्रत्येक धर्म यह बात कहता है

किन्तु यह तुलनात्मक अध्ययन का मूल विषय नही है। यदि धम्मपद और उत्तराध्ययन का तुलनात्मक अध्ययन इन सर्वमान्य तथ्यों के संदर्भ में किया जाता है तो कोई नई प्रस्थापना नही की जा सकती। हमारा दृष्टिकोण अभेद के साथ-साथ भेद को खोजने का होता है तो कई नए तथ्य सामने आ सकते है।

आकाशवाणी की योजना

आचार्यश्री दिल्ली में विराज रहे थे। आकाशवाणी, दिल्ली के अधिकारी आए। आचार्यश्री से प्रार्थना की—हम आपका कुछ समय आकाशवाणी के लिए चाहते हैं। इस निवेदन का कारण बताते हुए उन्होंने कहा—हमारे विभाग की योजना है—दुनिया के जो महापुरुष हैं, महान् संत हैं, उनके जीवन एवं विचारो का संग्रह किया जाए। इस दृष्टि से हमने अनेक महापुरुषो के जीवन और दर्शन का रिकार्ड किया है। आप भी भारत के एक महान् सत हैं। हम चाहते हैं—आपका जीवन-दर्शन और चिन्तन आपकी भाषा मे सुरक्षित रहे इसलिए हमे आपका समय चाहिए। सैंकडो वर्ष बाद भी कोई व्यक्ति जिज्ञासा करे—अमुक व्यक्ति कौन था? उसके विचार क्या थे? उसका चिन्तन और दर्शन क्या था? उसकी इस जिज्ञासा का समाधान हमारे रिकार्ड मे सुरक्षित मिलेगा। पूरी विचारधारा और जीवन-दर्शन संगृहीत रहता है। उसके बारे में कभी भी कुछ जाना जा सकता है, उसी व्यक्ति की आवाज मे उसके विचार एवं दर्शन को सुना जा सकता है, विचार एव दर्शन के क्षेत्र मे दिए गए नए अवदान का मूल्यांकन किया जा सकता है।

हमने उनकी बात मान ली और उनकी जिज्ञासाओ को समाहित करने का प्रयत्न किया।

विशिष्टता का बोध : भेद की खोज

वैज्ञानिक जगत् यह मानता है—हम जो कुछ भी बोलते हैं, वह सब आकाशिक रिकार्ड मे अंकित हो जाता है। जैन आगमों मे कहा गया है—मन पर्यव ज्ञानी लाखो-करोडो वर्ष पूर्व के विचारो को पढ लेता है, जान लेता है। आकाश मे भाषावर्गणा और मनोवर्गणा के पुद्गल बराबर बने रहते हैं, इसलिए उन्हे पढा जा सकता है। व्यक्ति की आकृति को भी

बसा था? हजार वर्ष पहले का आज कोई आदमी जीवित है? कितने मकान ऐसे हैं जो हजार वर्ष पहले बने हुए हैं? एक प्रवाह चल रहा है, जिसमें सैकड़ों पीढियां अस्तित्व मे आई, विलीन हो गई। उनका कहीं अता-पता नहीं है। एक व्यक्ति अपनी सात पीढियों के नाम बता देगा लेकिन उससे आगे भी एक परंपरा और प्रवाह रहा है। वह कहां पहुंच पाएगा? कहीं उसे रुकना होगा, थमना होगा, क्योंकि प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है और उस तक पहुंचना संभव नहीं है। महावीर ने कहा—इस प्रवाह के बीच मे एक वह भी है, जो कभी नही बदलता, जो अचल है, अपरिवर्तनीय और स्थाई है।

प्रश्न है मंजिल का

भगवती सूत्र में कहा गया है—**अथिरे पलोट्टई, थिरे नो पलोट्टई।** जो अस्थिर है, प्रवाह है, वह बदलता रहता है। जो स्थिर है, वह कभी नही बदलता। इस सिद्धांत के संदर्भ मे हम उत्तराध्ययन और धम्मपद को पढेगे तो हमारी यह दृष्टि स्पष्ट होगी— महावीर की पहुंच कहा थी? बुद्ध की पहुच कहां थी? हम पहुंच को पकडे, अंतिम मंजिल को पकडें। बीच में हर बात मिल जाती है। कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है, जो बीच मे न मिलता हो। दो विरोधी धाराए भी मध्य मे एक स्थान पर मिल जाती हैं। प्रश्न है—अंतिम मजिल का। आखिर जाना कहां है? एक गाड़ी बम्बई से दिल्ली की ओर जा रही है और एक गाड़ी दिल्ली से बम्बई की ओर जा रही है। एक स्थान ऐसा आता है, जहां दोनों गाडियां मिल जाती है फिर दोनो की दिशाए बिल्कुल भिन्न हो जाती है। हम केवल समानता के बिन्दु को पकड कर उलझ न जाएं। हमे समानता को भी समझना है, असमानता को भी समझना है। असमानता के बिन्दु क्या है? भेद कहां है? किस व्यक्ति ने कौनसी नई बात कही है? यह खोजना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा : सामान्य निर्देश

अहिंसा के सदर्भ में एक सामान्य उपदेश है— 'किसी प्राणी को मत मारो।' ढाई हजार वर्ष पहले महावीर ने कहा—**सव्वे पाणा ण हंतव्वा।** वुद्ध ने भी इस वात पर वल दिया। आचार्य हरिभद्र, आचार्य भिक्षु आदि अनेक आचार्यो ने इस वात को वहुत मूल्य दिया। आज भी धर्म के प्रवक्ता

इस बात के महत्त्व को समझा रहे हैं। 'किसी को मत मारो'— यह अहिंसा का सामान्य निर्देश है। अहिंसा के संदर्भ मे इससे हटकर भी कुछ नई बातें कही गई हैं। महावीर ने कहा— पानी के जीव को कोई मार रहा है। वह हिंसा ही नहीं कर रहा है, चोरी भी कर रहा है।

अहिंसा : नई स्थापना

आज विज्ञान के क्षेत्र मे एक शब्द बहुत प्रचलित है—नई स्थापना। यह शब्द तर्क और दर्शन के क्षेत्र में भी चलता रहा है। महावीर की पहली नई स्थापना है—पानी में जीवत्व की स्वीकृति। दूसरी नई स्थापना है—सचित्त पानी पीना हिंसा ही नहीं, चोरी भी है। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—पानी पीने में पानी के जीव मरते हैं, वह हिंसा है लेकिन चोरी कैसे है? उसे चोरी कैसे कहा जा सकता है? महावीर ने उत्तर दिया—वह चोरी भी है। प्रतिप्रश्न किया गया—एक व्यक्ति तालाब का पानी पीता है और वह तालाब के मालिक की आज्ञा लेकर पानी पीता है। वह चोरी कैसे है? यदि वह मालिक की आज्ञा के विना पानी पिए तो उसे चोरी कहा जा सकता है, अन्यथा नही। महावीर ने कहा—जो व्यक्ति पानी पीता है, वह तालाब के मालिक की आज्ञा तो लेता है किन्तु जिन पानी के जीवो को अपनी प्यास बुझाने के लिए मार रहा है, क्या उन जीवों की भी आज्ञा लेता है? क्या वह व्यक्ति कहता है— 'भाई। मैं तुम्हें मार रहा हूं, तुम मुझे आज्ञा दे दो।' आज्ञा लिए विना पानी के जीवो का आहरण चोरी है।

भूल का अहसास

संन्यासी जा रहा था। मार्ग मे तालाब आ गया। तालाब मे कमल के फूल खिले हुए थे। कमल के फूलो की भीनी-भीनी सुगंध आ रही थी। संन्यासी का मन सुगंध मे उलझ गया। वह वहुत देर तक फूलों की सुगंध लेता रहा। तालाव का मालिक खड़ा-खडा देख रहा था। उसने कहा—संन्यासी! चोरी कर रहे हो? यह सुनकर संन्यासी अवाक् रह गया। उसने सोचा—मैंने फूल को तोडा नहीं, चोरी कैसे हुई? शायद भ्रम हो गया है। संन्यासी बोला—भाई! जिसने तुम्हारा यह कमल तोडा था, वह तो मुझसे पहले ही चला गया। क्या तुमने उसको नही देखा था?

मालिक बोला—हां, देखा था।

जिसने कमल का फूल तोडा, चोरी की, उसे कुछ नहीं कहा। मैंने फूल तोड़ा ही नहीं, केवल सुगंध ले रहा हूं, फिर भी तुम मुझे चोर ठहरा रहे हो?

तालाब का मालिक किसान था। उसने बहुत मर्म की बात कही– महाराज! वह गृहस्थ था, संन्यासी नहीं। उसने भी चोरी की है। पर आप सुगंध किसकी आज्ञा से ले रहे थे? कमल की आज्ञा ली? मेरी आज्ञा ली?

नहीं।

क्या बिना आज्ञा किसी अन्य वस्तु का उपयोग करना चोरी नही है?

फिर आप कैसे कह सकते हैं मैंने चोरी नहीं की?

संन्यासी को अपनी भूल का अहसास हो गया

असमानता की खोज : मौलिकता की खोज

महावीर की यह मौलिक स्थापना है–'पानी में जीव है'–जीव को मारना हिंसा ही नहीं, चोरी भी है। आज हमें यह खोजना है–अध्यात्म के किस आचार्य ने क्या मौलिक अवदान दिया? क्या नई स्थापना की? हम लोग समानता की बात तक अटक जाते हैं। यह एक बहुत बड़ा भ्रम हो गया– सब साधु समान हैं, सब संप्रदाय समान हैं, सब धर्म समान हैं। इस केवल समानता-समानता की रट में मौलिकता उपेक्षित हो गई। कुछ बातें समान होती हैं तो कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जो धर्म-दर्शन की विशिष्टता को रेखांकित करती हैं। हम अपनी धारणा को स्पष्ट करें–समानता को खोजे तो साथ-साथ असमानता को भी साफ-साफ समझे। जब असमानता की बात समझ में आएगी, मर्म-बिन्दु समझ मे आ जाएगा।

हम धम्मपद को पढ़ें, उत्तराध्ययन को पढे, कुरान, बाइबिल और पिटकों को पढ़ें, इन सबको आदर के साथ पढ़ें। इसमें कोई कठिनाई नही है। जैनधर्म ने उदारता के साथ यह स्वीकृति दी–स्व-समय को जानो, पर-समय को भी जानो। यह नही कहा गया–दूसरो की पुस्तके मत पढ़ो, उन्हे नष्ट कर दो। संवत् २००५ की बात है। आचार्यवर ने कहा–समाजवाद-साम्यवाद को जानना है। आज की मान्यताओं को हमे जान लेना चाहिए। दूसरो को आश्चर्य हुआ– आचार्यश्री ने यह आज्ञा कैसे

दे दी? साम्यवाद को पढ रहे हैं, कहीं नास्तिक न बन जाएं, कम्युनिस्ट न बन जाए। मैंने समाजवाद और साम्यवाद का गहरा अध्ययन किया तब अनेक जैन विद्वानो ने तो यह भी कह भी दिया कि मुनि नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) साम्यवादी बन गए हैं, नास्तिक हो गए हैं, लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं।

सत्य का विराट् दर्शन

हम समग्रदृष्टि से पढ़े। यह उदारता जैनधर्म में सहज प्राप्त है। हम इस उदारता के साथ-साथ यह बात भी समझें—सम्यक्वाद का कथन कर, मिथ्यावाद का कथन करे और मिथ्यावाद का कथन कर सम्यक्वाद की स्थापना करें। यह तुलनात्मक अध्ययन का नया दर्शन है। जो लोग तुलनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें विक्षेपणी कथा का सूत्र जरूर पढ लेना चाहिए। आज तुलनात्मक अध्ययन की दिशा मे पाश्चात्य और भारतीय चिन्तन परपरा में काफी कुछ लिखा गया है, पर तुलनात्मक अध्ययन का एक समग्र दर्शन, जो इस सूत्र मे उपलब्ध है, वह बहुत महत्त्व का है। इस दर्शन के साथ हम उत्तराध्ययन, धम्मपद या किसी भी ग्रन्थ को पढे तो सत्य का विराट् दर्शन होगा। जैसे योगीराज कृष्ण ने अर्जुन को अपने मुह में विराट् का दर्शन कराया था वैसे ही इस सूत्र के संदर्भ मे हमे सत्य का विराट् दर्शन उपलब्ध हो सके तो तुलनात्मक अध्ययन और अन्वेषण की सार्थक परिणति का साक्षात् होगा।

उत्तराध्ययन और महाभारत

समाज या राष्ट्र के जीवन को समझने के लिए साहित्य बहुत बड़ा माध्यम है। व्यक्ति आता है, चला जाता है। वह अपने पीछे कुछ छोड जाता है। एक परंपरा चलती है और वह समाप्त नहीं होती। परंपरा में जो मोड़ आते है, बदलाव आते हैं, वे साहित्य मे लिखे होते हैं। आज का प्रसिद्ध शब्द है पीढियों का अंतराल। एक पीढी के बाद दूसरी पीढी बदल जाती है। बदलती तो वह पीढी भी है किन्तु दूसरी पीढी में निश्चित बदलाव आ जाता है। रहन-सहन, खान-पान, चिन्तन सब कुछ बदल जाता है। हम पचास वर्ष का राजस्थान का जीवन-क्रम देखें। खान-पान मे परिवर्तन आ गया है, रहन-सहन बदल गया है, मकान बनाने का क्रम बदल गया है। चिन्तन तो बदला ही है। पहले महिलाए पर्दे मे बैठती थीं। आज पर्दे हट गए हैं। जोधपुर में महिलाएं दो पर्दो मे बैठती थी। आज वे दोनो हट गए हैं। इस बदलाव को जानने के लिए इतिहास और साहित्य बडे माध्यम होते हैं। अगर साहित्य न हो तो सारा अतीत अधकारमय बन जाए, कुछ भी ज्ञात न हो पाए।

साहित्य की उपयोगिता

साहित्य न होने का अर्थ है – अतीत का लोप। केवल वर्तमान बहुत दरिद्र होता है। वह समृद्ध तभी होता है जब उसका अतीत समृद्ध होता है। हजारों-हजारों वर्षो के अंतराल मे जो कुछ घटित हुआ, जो कुछ सोचा गया, अनुभव किया गया, वह मिल जाता है तो समाज समृद्ध बनता है। हिन्दुस्तान इस अर्थ मे बहुत समृद्ध है। उसके पास पांच हजार वर्ष का इतिहास या साहित्य उपलब्ध है। उससे पीछे का समाप्त हो गया, फिर भी पाच हजार वर्ष कम नहीं हैं। दुनिया मे एक-दो राष्ट्र ऐसे हैं जो इस दृष्टि से आगे हैं। इतिहास और साहित्य

का समृद्ध अतीत भारतीय जनता के लिए प्रेरणा का कार्य करता है।

रामायण और महाभारत

साहित्य की कई धाराए हैं। उस साहित्य की धारा में दो महाकाव्य माने जाते हैं– रामायण और महाभारत। हम महाभारत की चर्चा करें। दिल्ली दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक ने महाभारत को एक नया जीवन प्रदान कर दिया है, एक नई स्मृति दिला दी है। आज जिसका नाम महाभारत है, पहले उसका नाम महाभारत नहीं था। उसका पहला नाम था 'जय'। श्लोक-संख्या भी बीस-तीस हजार से अधिक नही थी। शायद और भी कम रही होगी। उसका रूप बदला, प्रक्षेप होता चला गया, श्लोक बढते चले गए। 'जय' नाम बदला और 'भारत' नाम से यह महाकाव्य जाना जाने लगा। जैन आगम नंदी सूत्र और अनुयोगद्वार मे महाभारत का नाम मिलता है 'भारत'। बीस-इक्कीस हजार श्लोक वाले इस ग्रंथ मे आज लाख से भी अधिक श्लोक माने जाते हैं। कितना प्रक्षेप हो गया। बहुत प्रक्षेप होता गया, ग्रन्थ परिमाण बढता चला गया। सचमुच 'भारत' महाभारत बन गया। आज रामायण और महाभारत—दो कहावते बन गई हैं। जहां कही थोडा बहुत झंझट होता है तो लोग कहते हैं – क्यूं रामाण करे। रामायण रामाण बन गई और झगडा महाभारत बन गया।

संकलन ग्रंथ

महाभारत सचमुच महाभारत है, एक विशाल ग्रंथ है। जो कुछ अच्छा लगा, उसके साथ जोड़ दिया गया। पहले कहा जाता था—व्यास का है महाभारत। आज यह कितने लोगों का है, कहा नहीं जा सकता। दस-बीस या न जाने कितने लोगो ने उसे बढाया और इतना विशाल आकार दे दिया। जिसको जो चीज अच्छी लगी, उसने इसके साथ उसे जोड़ दिया। ऐसा लगता है– हिन्दुस्तान मे जितना विचार था, जितना चिन्तन था, जितनी धर्म की धारणाए थी, समाज की धारणाएं थीं, उन सबका समावेश कर दिया गया। इसीलिए महाभारत में बहुत विरोधी बातें मिलती हैं। एक विचार से, एक लक्ष्य से जो लिखा जाता है,

उसमें विरोधी बातें नहीं होतीं। जहां संग्रह होता है, समावेश होता है वहां विरोधी बातें भी संकलित हो जाती हैं।

एक अतिशयोक्ति

महाभारत एक संकलन ग्रंथ है। जो भी अच्छा लगा, इसमें जोड़ दिया गया। जैन दर्शन की जो बात अच्छी लगी, महाभारत के साथ जोड़ दी गई। बौद्ध दर्शन की जो बात अच्छी लगी, उसे भी जोड़ दिया गया। जितनी धाराएं थीं, उनको जोड़कर एक सागर बना दिया गया। एक ऐसा समुद्र, जिसमें आकर सारी धाराएं मिल जाती हैं। इसीलिए शायद यह कहा गया – जो कुछ खोजना चाहो, महाभारत में मिल जाएगा। जो इसमे नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। हालांकि यह एक अतिशयोक्ति है। इसमें बहुत सारी बातें है, यह तो कहा जा सकता है लेकिन जो इसमें नही है, वह कहीं नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

महाभारत : कुछ स्पष्ट तथ्य

महाभारत के सदर्भ में कुछ बातें बहुत स्पष्ट है। महाभारत कोई एक ग्रन्थ नहीं है, वह अनेक ग्रंथों का संकलन है। वह किसी विचारधारा का प्रतिनिधि ग्रथ नहीं है, अनेक विचारधाराओं का समवाय है। किसी एक धागे से यह कपडा नहीं बुना गया है। अनेक रग के धागों से बुना हुआ है यह कपडा। इसमें नाना प्रकार के रंग भरे गये हैं– लाल, पीला, नीला, काला, हरा, सफेद आदि। इसकी बुनावट भी एक तरह की नहीं है, अनेक प्रकार की है।

महाभारत और उत्तराध्ययन

हम महाभारत के संदर्भ मे उत्तराध्ययन पर विचार करे। उत्तराध्ययन एक छोटा ग्रथ है। उसका श्लोक-परिमाण दो हजार माना जाता है। कहां सवा लाख पद्य-परिमाण और कहा दो हजार पद्य परिमाण! बहुत छोटा ग्रंथ और वह भी एक विषय का ग्रंथ। उत्तराध्ययन के रचनाकार का उल्लेख भी नही मिलता। यह एक- कर्तृक है या संकलन है, इसका निर्णय करना भी कठिन है। पाश्चात्य विद्वानो ने इस सदर्भ मे कुछ खोजें की हैं और उनका निष्कर्ष है – उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन एक वार संकलित हुए हैं और शेष अठारह अध्ययन वाद मे

जोडे गए हैं। यह निर्णय रचना-शैली के आधार पर। छंद और विषय-वस्तु के आधार पर सामने आया है। दो बार में किया गया यह संकलन एक-कर्तृक है या बहुकर्तृक, यह प्रश्न आज भी अनिर्णीत है। एक अध्ययन ऋषिभाषित जैसा है। किसी प्रत्येक-बुद्ध मुनि ने एक अध्ययन रचा और वह इसमें संकलित हो गया। यह ग्रंथ भी एक प्रकार का संकलन ग्रंथ है। अलग-अलग अध्यायो का संकलन। इसमें छत्तीस अध्ययन हैं, जिनमे तत्त्वविद्या का निरूपण भी है, आचार-शास्त्र का प्रतिपादन भी है, कथा और दृष्टांतों का संकलन भी है, जीवनवृत्त भी हैं और प्रश्नोत्तर भी हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टयी

महाभारत में चार पुरुषार्थों का वर्णन है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष – ये चार पुरुषार्थ भारतीय जीवन की समग्रता माने गए हैं। समग्र जीवन उसका होता है, जिसमे अर्थ भी होता है, काम भी होता है, धर्म और मोक्ष भी होता है। यह समग्र जीवन की भारतीय कल्पना है। भारतीय चिन्तन के अनुसार इन चार पुरुषार्थों से परिपूर्ण जीवन ही जीवन माना जाता है। महाभारत में इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है। उसमे काम को भी बहुत प्रधानता के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रश्न हुआ – धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों में प्रधान कौन है? महाभारतकार कहते हैं – काम प्रधान है, धर्म और अर्थ गौण हैं। यह बात उत्तराध्ययन में मान्य नहीं है। उत्तराध्ययन कोरा अध्यात्म-शास्त्र है। उसमें धर्म और मोक्ष – दो पुरुषार्थों का ही विवेचन है। महाभारत में पुरुषार्थ चतुष्टयी का वर्णन है इसलिए वहां काम को भी सबसे बड़ा श्रेय मान लिया गया।

संदर्भ : राजनीति

महाभारत मे राजनीति का विस्तृत वर्णन है। महाभारत [illegible] दण्ड न हो तो सारी प्रजा नष्ट हो जाए। दण्ड ही शासन [illegible] दण्ड का प्रसंग है, उत्तराध्ययन कहता है – [illegible] प्रयोग हो रहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति [illegible] विवेकशील आदमी दूसरे आदमी को दण्ड दे, [illegible]

दण्ड है। उत्तराध्ययन का स्वर है – पत्थर फैंकने वाला व्यक्ति पहले अपने आपको देखे। यह अध्यात्म का स्वर है। अध्यात्म की भूमिका पर खडा होकर व्यक्ति वही वोलेगा, जो उत्तराध्ययन बोल रहा है। समाज की भूमिका पर, दंडनीति और राजनीति की भूमिका पर खडा होकर व्यक्ति जो बात कहेगा, वह महाभारत में मिल सकती है, उत्तराध्ययन मे नही।

भूमिका-भेद

हम इस भूमिका-भेद को समझें। जहां चार पुरुषार्थो की मान्यता है वहां दंड का समर्थन भी मिलेगा, हिसा का समर्थन भी मिलेगा, काम और अर्थ का समर्थन भी मिलेगा, अहिंसा और सत्य का समर्थन भी मिलेगा। महाभारत में अहिंसा का बहुत सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है। कहा गया – खेती करना भी हिंसा है। यह बात जैन आगमो मे मिलेगी या महाभारत में। महाभारत में पूरा एक प्रकरण है, जिसमे यह बताया गया है कि खेती किस प्रकार से हिंसा है। ऐसा लगता है – वह प्रकरण जैन विचारों के आधार पर लिखा गया है। अन्यथा इतनी सूक्ष्मता उसमें नहीं आती।

अध्यात्म की भूमिका पर

उत्तराध्ययन और महाभारत की प्रकृति को समझना आवश्यक है। हम अध्यात्म की भूमिका को पढे। उत्तराध्ययन मे महावीर गौतम को संवोधित करते हुए कहते हैं – गौतम! तुम याद करोगे, आने वाली पीढियां याद करेंगी – आज तीर्थकर नही हैं। धर्म के मार्गदर्शक वहुत हैं। हम किसकी बांत को स्वीकार करे और किसकी बात को अस्वीकार करें। यह एक वड़ा प्रश्न होगा। यही स्वर महाभारत में है – यदि एक शास्त्र होता तो श्रेय प्रकट हो जाता किन्तु आज शास्त्र एक नही है। कितने शास्त्र वन गए हैं। श्रेय को गुफा मे डाल दिया गया है। उसका पता ही नही चल पा रहा हे। तर्क भी प्रतिष्ठित नही है। धर्म का सारा तत्त्व उसमे छुप गया है। महाभारत में युधिष्ठिर के सामने ये सारी वातें आ रही हैं और उसका एक पूरा प्रकरण है। यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है – शास्त्र एक नहीं है, वहुत हैं, इसलिए श्रेय तत्त्व छिप

गया है–

शास्त्र यदि भवेदेक, श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम्।।

अर्थ और काम की भूमिका पर

चिन्तन की धारा मे कितनी समानता है लेकिन यह अलग भूमिका की बात है। हम इस भूमिका-भेद को स्पष्ट जाने। जहां जहा महाभारत मे अध्यात्म का चिन्तन है वहां वहा उत्तराध्ययन और महाभारत को एक तराजू में रखा जा सकता है। एक तराजू के दो पल्ले हैं। एक पल्ले में महाभारत को रखें और दूसरे में उत्तराध्ययन को। दोनो सम रहेगे। न कोई ऊँचा होगा और न कोई नीचा। अध्यात्म की भूमिका मे कोई अंतर हो ही नही सकता। जहां अर्थ और काम का प्रश्न है वहां उत्तराध्ययन और महाभारत का चिन्तन दो विपरीत दिशाओ की भाति कही नही मिलता। अर्थ के संदर्भ मे महाभारत कहता है – अर्थ के बिना आदमी को पूछता कौन है? निर्धन आदमी बड़ा निर्बल होता है। सबसे पहले धन का अर्जन करो। धन ही सब कुछ है। महाभारत मे धन को बहुत मूल्य दिया गया है। काम और दंडनीति का भी प्रबल समर्थन किया है। उत्तराध्ययन मे इन सबको कोई स्थान नही है। उत्तराध्ययन और महाभारत की तुलना से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि जहा महाभारत पुरुषार्थ चतुष्टयी का वर्णन करने वाला ग्रंथ है वहां उत्तराध्ययन केवल दो पुरुषार्थो – धर्म और मोक्ष का प्रतिपादक ग्रथ है।

विमर्शनीय प्रश्न

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है – जैन धर्म परिपूर्ण धर्म नही है और इसलिए नही है कि उसने काम और अर्थ के बारे मे अपनी नीति स्पष्ट नही की। एक साधु के लिए जैन धर्म परिपूर्ण धर्म है लेकिन एक गृहस्थ के लिए वह परिपूर्ण धर्म नहीं है। क्योंकि उसमे समाज का चिन्तन नहीं है। यह प्रश्न बहुत बार आता है। साहू शांतिप्रसादजी जैन ने अनेक बार कहा – महाराज! जब भी आप प्रवचन सुनाते हैं तब बार-बार यह कहते हैं – साधु ऐसा नहीं करता,

साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए, साधु को ऐसा करना चाहिए। साधु कौन होता है? साधु का धर्म क्या है आदि आदि। पर आप हमें यह सब क्यो सुनाते हैं? क्या हम साधु हैं? साधु-धर्म हमारे लिए कितना उपयोगी है! आप हमें यह क्यों नहीं बताते कि हम क्या करे और क्या नहीं करें? गृहस्थ को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए?

वस्तुतः यह एक विमर्शनीय प्रश्न है।

साहू शान्तिप्रसादजी जैन कोरे उद्योगपति नहीं थे। वे बहुत श्रद्धालु थे, अध्ययनशील और मननशील व्यक्ति थे। वे कहते – "महाराज! कोरा धन में जीना ही क्या जीना है? वस्तुतः जीना वह है, जिससे व्यक्ति की धार्मिक आस्था को बल मिले।

धर्म कब करें?

धर्म के लिए कोई समय निश्चित नही है। आदमी सोचता है – जब बुढ़ापा आयेगा तब धर्म करूंगा। जब वृद्धत्व आएगा तब व्यापार छोड दूंगा, धर्मध्यान करूंगा, सत् साहित्य पढूंगा। महावीर ने कहा – जब तक बुढ़ापा न आए, जब तक शरीर मे रोग न आए, इन्द्रियां हीन न हों तब तक धर्म करो। जब बुढ़ापा आ जाएगा, रोग से आक्रांत हो जाओगे, इन्द्रियां क्षीण हो जाएंगी, तब कुछ नहीं होगा –

जरा जाव न पीलेई वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

आचारांग चूर्णि तथा अनेक व्याख्या ग्रंथों में यह कहा गया है – चालीस वर्ष के बाद बुढ़ापा आना शुरू हो जाता है, नेत्रशक्ति क्षीण होने लग जाती है। आज वैज्ञानिक इस बात की पुष्टि कर रहे हैं। विज्ञान कहता है – चालीस वर्ष के आस-पास आंख की शक्ति कम होनी शुरू हो जाती है। एक बार मैंने आंखो का परीक्षण कराया। उस समय मैं सैंतीस वर्ष का था। डाक्टर ने परामर्श दिया – महाराज! आपको पढ़ना वहुत पड़ता है, इसलिए अब आपको चश्मा लगा लेना चाहिए, जिससे आंखे ठीक काम करती रहें।

वैज्ञानिक स्वर

चालीस वर्ष की अवस्था आने पर इन्द्रियो का बुढापा शुरू हो जाता

है। जो काम करना है, उसे चालीस वर्ष से पहले पहले पूरा कर लेना चाहिए। यह कितना वैज्ञानिक स्वर है – बुढ़ापा न आए तब तक जो कुछ श्रेय करना है, कर लो। बुढ़ापे के भरोसे नहीं रहना चाहिए। आज का युवक सोचता है – अभी क्या अवस्था है? खूब धन कमाएं, भोग भोगें। धर्म करने की अवस्था तो बाद में है। यह चिन्तन वर्तमान मे ही नहीं, अतीत में भी चलता रहा है। उत्तराध्ययन मे मुनि बनने के लिए उद्यत अपने पुत्रों से भृगु कहते हैं – यह दीक्षा लेने का समय नहीं है, अभी तुम भोग भोगो। जब अवस्था आए तब मुनि बनना। इस चिन्तन के संदर्भ में महावीर कहते हैं – आज का काम कल पर मत छोडो। 'मैं कल करूंगा' यह वही व्यक्ति कह सकता है, जिसने मौत के साथ मैत्री गांठ ली हो।

कथन युधिष्ठिर का

महाभारत का प्रसंग है। युधिष्ठिर के पास कोई याचक आया और उसने किसी वस्तु की याचना की। युधिष्ठिर ने कहा – आज नही, कल दूंगा। युधिष्ठिर के इस वाक्य को भीम ने सुना। उसने तत्काल नगाडे वजाने का आदेश दे दिया। युधिष्ठिर ने कहा – यह असमय मे नगाडे कौन वजा रहा है? नगाड़े क्यों वजाए जा रहे हैं? युधिष्ठिर ने भीम से कहा – भीम! यह क्या कर रहे हो। भीम ने जवाव दिया – महाराज! आज वडी खुशी की वात है। आप कालजयी वन गए हैं।

किसने कहा?

आपने ही तो याचक से कहा था – मैं आज नही, कल दूंगा। इसका अर्थ है – आपका कल तक जीना निश्चित हो गया। आपने कल तक के लिए मौत को जीत लिया।

युधिष्ठिर ने अपनी भूल स्वीकार की, नगाडे वजने वंद हो गए।

साम्यबिंदु

हम उत्तराध्ययन और महाभारत के इन दोनो प्रसंगों को मिलाएं। चिन्तन में कितना साम्य है! उत्तराध्ययन और महाभारत में कहीं कहीं तो इतना साम्य है कि सहज ही यह प्रश्न उठ जाता है –

प्राकृत में अनुवाद कर दिया गया है अथवा प्राकृत का संस्कृत में अनुवाद कर दिया गया है। जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य और महाभारत– तीनों को सामने रखें तो यह निर्णय करना कठिन होता है कि किससे किसने लिया। एक निष्कर्ष निकाला गया – शायद कुछ बातें समान थी, जिन्हें तीनों परंपराओं ने अपना लिया। जैसे लौकिक कहानियां चलती है। कहानी पर किसी का अधिकार नहीं होता। उस कहानी का उपयोग जैनो ने भी किया, बौद्धों ने भी किया और महाभारतकार ने भी किया। श्रमण साहित्य भी पुराना था। ऐसे भी कुछ पद्य हैं, जो संभवतः श्रमण साहित्य से लिए गए हैं। उस समय इतनी साम्प्रदायिकता नहीं थी। उस श्रमण साहित्य को जैनो ने भी अपनाया, बौद्धों ने भी अपनाया और महाभारतकार ने भी अपनाया।

समत्व का दर्शन

तुलनात्मक अध्ययन से अनेक समान बातें सामने आती हैं। जो व्यक्ति उत्तराध्ययन को पढ़ेगा, उसे वासी और चंदन – दोनो मे समान रहने का दर्शन मिलेगा। उत्तराध्ययन मे कहा गया – एक ओर चंदन से अर्चा हो रही है, दूसरी ओर वसूले से काटा जा रहा है। मुनि इन दोनो अवस्थाओ में सम रहे। मृगापुत्र कहता है – मै ऐसा समता का जीवन जीना चाहता हू, जिसमें वासी और चंदन – दोनों के प्रति समभाव रहे। यह समता का स्वर, श्रमण परंपरा का स्वर महाभारत में भी मिलता है। महाराज जनक कह रहे हैं – दो आदमी एक साथ मेरे पास आए। एक व्यक्ति के हाथ मे था चंदन और दूसरे के हाथ में था वसूला। जिसके हाथ मे चंदन था, वह मेरे दाए हाथ पर चंदन लगा रहा है। जिसके हाथ मे वसूला था, वह बाएं हाथ को वसूले से छिल रहा है। दाएं हाथ पर चंदन लगाने वाला और बाएं हाथ पर वसूला चलाने वाला – दोनो मेरे लिए समान हैं।

अध्यात्म की उच्च भूमिका

यह वड़ी विचित्र वात है कि एक ही समय में चदन से अर्चा हो रही है और वसूले से छिला जा रहा है। ऐसा नहीं कहा गया – कभी कोई आया, चंदन से अर्चा कर चला गया और कभी कोई आया, वसूले से

प्रहार कर चला गया। एक साथ होने वाली इन दोनों क्रियाओं में एक जैसी समता की अनुभूति अध्यात्म की उच्च भूमिका की बात है। यह न समाज की भूमिका है, न राज्य की भूमिका है। समाज और राज्य की भूमिका मे इन दोनों क्रियाओं को एक जैसा मानना मूर्खता की बात है। चंदन की अर्चा करने वाले और वसूले से प्रहार करने वाले को एक माने, यह लौकिक समझदारी की बात भी नहीं है। नमक और कपूर को एक जैसा मानना कोई समझदारी की बात नहीं। जहां अध्यात्म की उच्च भूमिका है, समता प्रतिष्ठित हो गई है वहीं अनुभूति का यह स्वर फूट सकता है।

काम और अर्थ को प्रधानता क्यों नहीं

जैन दर्शन मे धर्म और मोक्ष को प्रधानता दी गई किन्तु काम और अर्थ को प्रधानता क्यों नहीं दी गई? इस प्रश्न पर भी थोडा विचार करे। ऐसा लगता है – अध्यात्म के आचार्यो ने केवल शाश्वत नियमो को ही स्थान दिया। समाज के नियम, काम और अर्थ के नियम, परिवर्तनशील होते हैं। परंपराएं कभी शाश्वत नही होतीं। अध्यात्म के आचार्यो के अशाश्वत को नहीं छुआ। जिन धर्मो ने काम और अर्थ को धर्म के साथ जोड़ा, उन्हे धर्म का रूप दिया, वहां रूढिवाद और अज्ञान पनपा, कठिनाइयां बढ़ी। आज से दो हजार वर्ष पहले एक विधान कर दिया गया – कोई चोरी करे तो हाथ काट देना चाहिए। कानो मे गर्म शीशा डाल देना चाहिए। इतने क्रूरतापूर्ण दण्डो का विधान किया गया।

चिन्तन में बदलाव

आज सारा चिन्तन बदल गया। इन ढाई हजार वर्षो मे चिन्तन मे निरन्तर बदलाव आता रहा है। आज कारावासों को सुधारगृह बनाया जा रहा है। कारावास कारावास जैसे नही लगते। हमने बक्सर (बिहार) के कारावास को देखा। ऐसा सुन्दर स्थान, कैदियो के क्रीडा करने के लिए ऐसा बढ़िया मैदान। शायद ऐसी सुविधाए अपने घर और गांव मे भी न मिले। कारावास देखने के बाद हमारे मन मे प्रश्न उभरा – यहां आने के बाद शायद बाहर जाने का मन ही नहीं करता होगा।

आज बाल-सुधार-गृह बनाएं जा रहे हैं। यह चिन्तन प्रबल बन रहा है– दण्ड से मनुष्य को सुधारा नहीं जा सकता। उसे सुधारना है तो सुधार-गृह बनाना होगा।

समाज की भूमिका

ऐसा लगता है – समाज का चिन्तन निरंतर विकास की ओर जा रहा है। यदि हम ढाई हजार वर्ष पहले की बात मानकर चले तो आंख फोड़ने, कान में शीशा डालने, हाथ काट देने जैसे क्रूर दंड-विधानों को अपनाना होगा। ये हमारे धर्मशास्त्र के कानून हैं। परिवर्तनशील नियमों को शाश्वत नियमों के साथ जोड़ दिया गया इसीलिए यह अज्ञान बढ़ा। जैन आचार्यो ने कभी ऐसी भूल नहीं की। उनका स्पष्ट चिन्तन रहा – हमारी सीमा है अध्यात्म को बताना, धर्म को बताना। समाज की भूमिका बदलती रहती है। उसे कभी धर्म के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। यह काम अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री का है।

शाश्वत को अशाश्वत के साथ न जोड़ें

धर्म का कांम इतना अवश्य है कि उसमे जो कुछ अवांछनीय लगे, उस पर अंकुश लगाए। काम या अर्थ की कोई बात अवांछनीय लगे तो धर्म का काम है किं वह उस अवांछनीय तत्त्व को हटाने की उत्प्रेरणा बने किन्तु धर्म और मोक्ष के शाश्वत नियमो के साथ अशाश्वत नियमों को जोड़कर उन्हे धर्म का रूप दे दिया जाए, शाश्वत नियमो का स्थान दिया जाए तो वह समाज के लिए भी कल्याणकारी नही होगा, धर्म के लिए भी कल्याणकारी नही होगा। यह दृष्टि जितनी साफ रहेगी, धर्म और समाज – दोनो का उतना ही भला होगा। उत्तराध्ययन मे पुरुषार्थद्वयी का जो प्रतिपादन है, वह सोच-समझकर किया गया प्रयोग है। इन सारे दृष्टिकोणो को सामने रखकर हम उत्तराध्ययन एवं महाभारत को पढें और जो जो सारभूत लगे, उसकी उपासना करें। यदि ऐसा होता है तो तुलनात्मक अध्ययन हमारे सर्वतोमुखी लाभ का कारण बन पाएगा।

आचारांग और गीता (१)

उलझन भरा प्रश्न

हमारी दुनियां मे एक आदमी नहीं है। अनेक आदमी हैं। विचार एक नहीं है। अनेक विचार हैं। अनेक व्यक्तियो के विचार तो अनेक हैं ही पर एक आदमी का विचार भी एक नही है। एक दिन मे कई बार उसके विचार बदलते रहते हैं। अनेक आदमी हैं, अनेक विचार हैं तो अनेक धर्म क्यो नहीं होगे? अनके संप्रदाय क्यो नही होगे? धर्म भी अनेक बन गए, सत्य भी अनेक बन गए, ग्रथ भी अनेक बन गए। एक समस्या पैदा हो गई – किस बात को सच मानें और किस बात को झूठ माने। किस धर्म का अनुगमन करें और किस धर्म का अनुगमन न करें? यह एक उलझन भरा प्रश्न है।

बुद्धि का स्तर : अनुभव का स्तर

यह जगत् नाना वादो से इतना जटिल बन गया है कि योगी की जटा भी इतनी जटिल नही होती। इसे सुलझाने का एक ही उपाय है। यह कघी से नहीं सुलझेगी। उस्तरे से ही इसे सुलझाना होगा। वह उस्तरा क्या है? हम रूपक की भाषा मे सोचें। हमारा जो बुद्धि का व्यवसाय है, जो बौद्धिक कसरते हैं, वे कंघिया हैं। उस्तरा है हमारा अनुभव। जहा अनुभव होता है, वहां सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। एकत्व या निर्द्वन्द्व की स्थिति अनुभव के स्तर पर घटित होती है। जिन लोगो ने अनुभव के स्तर पर बात कही है, उनकी बात मे कोई अन्तर नही है।

स्वाभाविक प्रश्न

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है – सत्य एक है तो फिर वाणिया अनेक क्यों? ग्रथ अनेक क्यो? इस समस्या को सुलझाने के लिए हम एक सामान्य भूमिका पर आएं और वह यह है कि जो-जो बात अनुभव के स्तर पर कही गई है, उसमे कोई मतभेद नही है। जो भी अनुभूत

के स्तर पर पहुंचा, उस भूमिका से उसने जो कहा, वह देशातीत और कालातीत बन गया। अनुभव के स्तर पर कही गई बात, चाहे वह किसी भी समय में, किसी भी आदमी ने कही हो, समान ही होगी। जब हम कभी अनेक विचारको को पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि क्या किसी ने किसी की बात को लिया है। महावीर, सुकरात, ताओ, कन्फ्यूशियस – सबके विचार, सबका चिन्तन एक जैसा है। क्या किसी ने किसी से लिया है? पर ऐसा नहीं है। वे सब विचार अनुभव के धरातल पर जन्मे हुए विचार हैं। जहां अनुभूति का प्रश्न है वहा कोई अंतर नही होता। अंतर होता है बौद्धिकता मे। भेद करने वाली है बुद्धि। जहां एकत्व और अद्वैत है वहां बुद्धि के व्यवसाय की जरूरत ही नहीं है। भेद का प्रश्न ही नहीं है।

तात्पर्य को पकड़ें

हम आचारांग और गीता को इस भूमिका पर पढ़े, अनुभव के स्तर पर पढे। ऐसा लगेगा – दोनों में भाषा का अतर हो सकता है, शैली का अंतर हो सकता है किन्तु जो तात्पर्यार्थ है, उसमे कोई अतर नही है। हम शब्दो को पकड़ते है, तात्पर्य को नहीं पकडते। केवल शब्दो के आधार पर आचारांग और गीता को पढ़ेगे तो ऐसा लगेगा – आचाराग जा रहा है पूरब दिशा मे और गीता जा रही है पश्चिम दिशा मे। जब हम तात्पर्य मे जाते हैं तो ऐसा लगता है – गोल दुनियां मे सब मिल जाते हैं, आचारांग और गीता मे कोई अतर दिखाई नही देता।

संदर्भ : श्रद्धा

महावीर ने कहा – 'सड्ढी आणाए मेहावी' – जो मेधावी है, वह आज्ञा मे श्रद्धावान् होता है। वह ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होता है, अपनी सारी सत्ता का नियोजन ज्ञान मे कर देता है। आज्ञा का मतलब है अनुभव का ज्ञान। जो अतीन्द्रिय ज्ञान मे श्रद्धालु होता है, वह आज्ञा मे श्रद्धा करता है। जहां बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है वहा श्रद्धा और समर्पण नही हो सकता, सदेह या दुराव होगा।

गीता मे श्री कृष्ण कहते हैं :–

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

ज्ञान योग, कर्म योग सब झंझट है। इन्हें छोडो और मेरी शरण को स्वीकार करो। तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्ति दिला दूंगा।

अकर्ताभाव

यह माना जाता है – गीता की शैली अकरण प्रतिपादन की शैली है। करण शैली वह है, जहां अभ्यास की बात आती है – अभ्यास करो और पाओ। आचारांग की भाषा है – अपने मन, चित्त और बुद्धि का भगवान की आज्ञा में नियोजन कर दो। गीता की शैली है – मेरी शरण मे आ जाओ। इन दोनो के तात्पर्य मे कोई अंतर नहीं है।

गीता में कहा गया है–

अंहकार विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते।
नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्वविद्।।

जो अहकार से विमूढ आत्मा है, वह यह मानता है कि मैं कर्ता हूं, किन्तु जो तत्वविद् है, वह यह मानता है कि मैं कुछ नही कर रहा हू, सब कुछ हो रहा है।

समर्पण का स्वर

जहां कर्तृत्व का भाव आया वहां अहंकार का भाव आ गया। तेरापथ धर्मसघ मे समर्पण की एक परंपरा रही है – कर्तृत्व को स्वयं पर आरोपित नही करना। जो तत्त्व को जानता है, गीता के सूत्र को पकडने वाला है, उसका स्वर होगा–मैं कुछ नही करता हूं, सब हो रहा है।

आचारांग का सूत्रकार कहेगा – सत्य के प्रति समर्पण करो। गीता का सूत्रकार कहेगा – मेरे मे चित्त लगाओ। गीता में पुरुष बोलता है और आचारांग मे सत्य बोलता है। गीता मे कृष्ण का मतलब सत्य से है। एक कृष्ण (सत्य) नही होता तो पाण्डवो की क्या दशा हो जाती? हम इन वाक्यो का हार्द पकडें। तात्पर्य मे अन्तर क्या है? आचारांग का

के स्तर पर पहुंचा, उस भूमिका से उसने जो कहा, वह देशातीत और कालातीत बन गया। अनुभव के स्तर पर कही गई बात, चाहे वह किसी भी समय में, किसी भी आदमी ने कही हो, समान ही होगी। जब हम कभी अनेक विचारकों को पढते हैं तो ऐसा लगता है कि क्या किसी ने किसी की बात को लिया है। महावीर, सुकरात, ताओ, कन्फ्यूशियस – सबके विचार, सबका चिन्तन एक जैसा है। क्या किसी ने किसी से लिया है? पर ऐसा नहीं है। वे सब विचार अनुभव के धरातल पर जन्मे हुए विचार हैं। जहां अनुभूति का प्रश्न है वहा कोई अंतर नही होता। अंतर होता है बौद्धिकता मे। भेद करने वाली है बुद्धि। जहां एकत्व और अद्वैत है वहां बुद्धि के व्यवसाय की जरूरत ही नहीं है। भेद का प्रश्न ही नहीं है।

तात्पर्य को पकड़ें

हम आचारांग और गीता को इस भूमिका पर पढ़े, अनुभव के स्तर पर पढ़ें। ऐसा लगेगा – दोनो में भाषा का अंतर हो सकता है, शैली का अंतर हो सकता है किन्तु जो तात्पर्यार्थ है, उसमे कोई अंतर नहीं है। हम शब्दों को पकड़ते हैं, तात्पर्य को नही पकडते। केवल शब्दो के आधार पर आचाराग और गीता को पढ़ेगे तो ऐसा लगेगा – आचाराग जा रहा है पूरब दिशा में और गीता जा रही है पश्चिम दिशा मे। जब हम तात्पर्य में जाते है तो ऐसा लगता है – गोल दुनिया में सब मिल जाते है, आचाराग और गीता मे कोई अंतर दिखाई नही देता।

संदर्भ : श्रद्धा

महावीर ने कहा – 'सड्ढी आणाए मेहावी' – जो मेधावी है, वह आज्ञा में श्रद्धावान् होता है। वह ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होता है, अपनी सारी सत्ता का नियोजन ज्ञान में कर देता है। आज्ञा का मतलब है अनुभव का ज्ञान। जो अतीन्द्रिय ज्ञान मे श्रद्धालु होता है, वह आज्ञा मे श्रद्धा करता है। जहा बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है वहा श्रद्धा और समर्पण नहीं हो सकता, संदेह या दुराव होगा।

गीता मे श्री कृष्ण कहते हैं :–

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

ज्ञान योग, कर्म योग सब झझट हैं। इन्हें छोड़ो और मेरी शरण को स्वीकार करो। तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें सब पापो से मुक्ति दिला दूगा।

अकर्ताभाव

यह माना जाता है – गीता की शैली अकरण प्रतिपादन की शैली है। करण शैली वह है, जहा अभ्यास की बात आती है – अभ्यास करो और पाओ। आचारांग की भाषा है – अपने मन, चित्त और बुद्धि का भगवान की आज्ञा मे नियोजन कर दो। गीता की शैली है – मेरी शरण में आ जाओ। इन दोनो के तात्पर्य मे कोई अंतर नहीं है।

गीता मे कहा गया है–

अंहकार विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते।
नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्वविद्।।

जो अंहकार से विमूढ आत्मा है, वह यह मानता है कि मै कर्ता हू, किन्तु जो तत्वविद् है, वह यह मानता है कि मै कुछ नही कर रहा हू, सब कुछ हो रहा है।

समर्पण का स्वर

जहां कर्तृत्व का भाव आया वहा अहंकार का भाव आ गया। तेरापथ धर्मसंघ में समर्पण की एक परंपरा रही है – कर्तृत्व को स्वय पर आरोपित नही करना। जो तत्त्व को जानता है, गीता के सूत्र को पकडने वाला है, उसका स्वर होगा–मैं कुछ नही करता हूं, सब हो रहा है।

आचारांग का सूत्रकार कहेगा – सत्य के प्रति समर्पण करो। गीता का सूत्रकार कहेगा – मेरे मे चित्त लगाओ। गीता मे पुरुष बोलता है और आचारांग मे सत्य बोलता है। गीता मे कृष्ण का [illegible] सत्य मे है। यदि कृष्ण (सत्य) नही होता तो पाण्डवो की क्या दशा हो जाती? हम इन वाक्यो का हार्द पकडे। तात्पर्य मे अंतर क्या है? आचारांग का

के स्तर पर पहुंचा, उस भूमिका से उसने जो कहा, वह देशातीत और कालातीत बन गया। अनुभव के स्तर पर कही गई बात, चाहे वह किसी भी समय में, किसी भी आदमी ने कही हो, समान ही होगी। जब हम कभी अनेक विचारकों को पढते हैं तो ऐसा लगता है कि क्या किसी ने किसी की बात को लिया है। महावीर, सुकरात, ताओ, कन्फ्यूशियस – सबके विचार, सबका चिन्तन एक जैसा है। क्या किसी ने किसी से लिया है? पर ऐसा नहीं है। वे सब विचार अनुभव के धरातल पर जन्मे हुए विचार है। जहां अनुभूति का प्रश्न है वहा कोई अंतर नहीं होता। अंतर होता है बौद्धिकता में। भेद करने वाली है बुद्धि। जहां एकत्व और अद्वैत है वहां बुद्धि के व्यवसाय की जरूरत ही नहीं है। भेद का प्रश्न ही नहीं है।

तात्पर्य को पकड़ें

हम आचारांग और गीता को इस भूमिका पर पढ़ें, अनुभव के स्तर पर पढ़े। ऐसा लगेगा – दोनों मे भाषा का अंतर हो सकता है, शैली का अतर हो सकता है किन्तु जो तात्पर्यार्थ है, उसमे कोई अतर नही है। हम शब्दो को पकडते है, तात्पर्य को नहीं पकडते। केवल शब्दो के आधार पर आचाराग और गीता को पढ़ेगे तो ऐसा लगेगा – आचारांग जा रहा है पूरब दिशा मे और गीता जा रही है पश्चिम दिशा में। जब हम तात्पर्य में जाते है तो ऐसा लगता है – गोल दुनियां मे सब मिल जाते है, आचाराग और गीता मे कोई अतर दिखाई नही देता।

संदर्भ : श्रद्धा

महावीर ने कहा – 'सड्ढी आणाए मेहावी' – जो मेधावी है, वह आज्ञा मे श्रद्धावान् होता है। वह ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होता है, अपनी सारी सत्ता का नियोजन ज्ञान मे कर देता है। आज्ञा का मतलब है अनुभव का ज्ञान। जो अतीन्द्रिय ज्ञान मे श्रद्धालु होता है, वह आज्ञा मे श्रद्धा करता है। जहा बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है वहां श्रद्धा और समर्पण नहीं हो सकता, सदेह या दुराव होगा।

गीता मे श्री कृष्ण कहते हैं :–

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

ज्ञान योग, कर्म योग सब झझट है। इन्हें छोड़ो और मेरी शरण को स्वीकार करो। तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्ति दिला दूगा।

अकर्ताभाव

यह माना जाता है – गीता की शैली अकरण प्रतिपादन की शैली है। करण शैली वह है, जहां अभ्यास की बात आती है – अभ्यास करो और पाओ। आचारांग की भाषा है – अपने मन, चित्त और बुद्धि का भगवान की आज्ञा में नियोजन कर दो। गीता की शैली है – मेरी शरण में आ जाओ। इन दोनो के तात्पर्य मे कोई अतर नही है।

गीता में कहा गया है–

अंहकार विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते।
नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्वविद्।।†

जो अहकार से विमूढ आत्मा है, वह यह मानता है कि मै कर्ता हू, किन्तु जो तत्वविद् है, वह यह मानता है कि मै कुछ नही कर रहा हू, सब कुछ हो रहा है।

समर्पण का स्वर

जहा कर्तृत्व का भाव आया वहां अहंकार का भाव आ गया। तेरापंथ धर्मसंघ मे समर्पण की एक परंपरा रही है – कर्तृत्व को स्वयं पर आरोपित नहीं करना। जो तत्त्व को जानता है, गीता के सूत्र को पकडने वाला है, उसका स्वर होगा–मैं कुछ नहीं करता हूं, बस हो रहा है।

आचारांग का सूत्रकार कहेगा – सत्य के प्रति समर्पण करो। गीता का सूत्रकार कहेगा – मेरे मे चित्त लगाओ। गीता में पुरुष बोलता है और आचारांग में सत्य बोलता है। गीता मे कृष्ण का मतलब सत्य से है। एक कृष्ण (सत्य) नही होता तो पाण्डवो की क्या दशा हो जाती? हम इन वाक्यो का हार्द पकड़े। तात्पर्य मे अतर कहां है? आचारांग का

महावीर और गीता का कृष्ण तात्पर्यार्थ में एक ही स्तर पर हैं। शब्दों के भेद को निकाल दें तो साम्य उपलब्ध हो जाएगा।

भरोसा साक्षात्कार पर

समस्या यह है – इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान बडा स्थूल होता है। आंख और कान का ज्ञान बड़ा धोखा देने वाला ज्ञान होता है। हमे भरोसा करना चाहिए प्रज्ञा पर, साक्षात् ज्ञान पर। भरोसा करना चाहिए अपरोक्षानुभव पर। आचार्य शंकर ने कहा–

बिना परोक्षानुभव, ब्रह्म ब्रह्मेति वादिने!

अपरोक्षानुभव तो हुआ ही नही और ब्रह्म की बात कर रहे हैं। जब तक साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति नही होती तब तक किसी के बारे में क्या कहा जा सकता है? शब्दो या शास्त्रो की दुर्दशा केवल मानने वाले अनुयाइयों ने जितनी की है उतनी किसी ने नहीं की। कहने वाले अनुभव के स्तर पर थे और मानने वाले बुद्धि के स्तर पर भी पूरे नही हैं।

यात्रा करें सत्य की

भगवान् महावीर ने इस बात पर बहुत बल दिया – मौत को तरना है तो कामना को तरना होगा। शकर ने तीसरे नेत्र के द्वारा काम को जलाया था। यह मार है, मोहजाल है। इसे कौन तर सकता है? महावीर ने कहा – जो सत्य के ज्ञान मे उपस्थित हो जाता है, वही इस मार को तर सकता है। श्री कृष्ण भी यही कहते हैं–

मच्चित्ते सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यति।

सब दुर्गो को पार करने के लिए तुम चित्त को मुझ मे लगा दो। मेरे प्रसाद से तुम तर जाओगे।

हम ऊपर के भेदो को छोड़कर जो सत्य है, उसकी यात्रा करे। उससे जैसी अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति इन शब्दो के भेदो से कभी नहीं हो सकती।

आचारांग और गीता (२)

जीवन को जानना, समझना और जीना बहुत जरूरी है। हम जीवन को जीते हैं, पर उसे जानते नहीं हैं। जीवन के लिए जो करना चाहते हैं, वह करते नहीं। जीवन की शैली वह अच्छी हो सकती है, जिसमें समग्रता हो। जीवन खण्ड-खण्ड नही, अखण्ड होना चाहिए। अखंड और समग्र व्यक्तित्व का जीवन जीना शान्ति एवं सुख-सुविधा के लिए जरूरी होता है। जिस जीवन में ज्ञान, कर्म और भक्ति-- इन तीनों का योग होता है, वह जीवन अखंड होता है, वह व्यक्तित्व परिपूर्ण होता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति

अखण्ड व्यक्तित्व के लिए ज्ञान का होना जरूरी है, कर्म और भक्ति का होना जरूरी है। कोरा ज्ञान है, जानने की क्षमता है और क्रिया की शक्ति नही है तो जीवन खंडित रहता है। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र कुमार जी बहुत बार कहते थे -- मेरे पास चिन्तन है, मै सोच सकता हूं पर कठिनाई यह है कि मेरे में कर्मजा शक्ति नहीं है। जैनेन्द्र जी ने कहा -- मेरे मन मे आचार्यश्री के प्रति जो अनुराग का भाव है, वह इसलिए है कि आचार्यश्री में ज्ञान के साथ-साथ कर्मजा शक्ति भी है। आचार्यश्री जानते हैं, सोचते हैं और कर डालते हैं। ज्ञान और कर्म -- दोनों होते हैं तो भी व्यक्तित्व परिपूर्ण नहीं बनता। आदमी जानता है और उसमें कर्म करने का सामर्थ्य है तो अहंकार के लिए खुला निमत्रण मिल जाता है। व्यक्ति जानने की शक्ति और कर्म करने की शक्ति -- दोनो से संपन्न हो और अहकारी न हो तो आश्चर्य की बात हो सकती है। जीवन मे अहंकार आता है, जीवन टूटना शुरू हो जाता है। अहंकार से बचने का उपाय है भक्ति योग। समर्पण, विश्वास और श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो अहंकार को पनपने का अवसर नही

मिलता। जिसमें श्रद्धा, समर्पण और विश्वास नहीं है, अहंकार उस पर हावी हो जाता है।

जीवन की समग्रता

भक्तियोग है परम के साथ अपना संबंध जोड़ लेना। जिसने भक्ति को अपने जीवन में रमा लिया, उसके ज्ञान और कर्म निर्दोष हो जाते हैं। ज्ञान पवित्र है पर आदमी को ज्ञान का भी अहंकार होता है। कर्म तो अहंकार का घर है ही। जब अहंकार प्रबल बनता है, व्यक्ति गिरता चला जाता है। कर्म-होता है तो उसके साथ अनेक दोष आ जाते हैं। कर्म की समस्या को सुलझाने के लिए भक्ति का होना बहुत जरूरी है।

उसके बिना जीवन में समग्रता या परिपूर्णता नहीं आती। आज बहुत सारे लोग कर्मठ हैं, कर्म करने में कुशल हैं किन्तु भक्तियोग के अभाव में कर्म स्वयं उलझन पैदा कर रहे हैं। कर्म का चक्र इतना बढ गया है कि व्यक्ति का जीवन दूसरों के लिए भार बन रहा है। कर्म के साथ आने वाले दोषों से बचने के लिए भक्ति का कवच पहनना जरूरी है। इस स्थिति में यदि प्रदूषण पैदा हो तो वह भी समाप्त हो जाए।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र

मोक्ष की दृष्टि से विचार करें तो यही तथ्य प्रस्फुटित होता है। तत्वार्थ सूत्र का प्रसिद्ध सूक्त है – 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' हमारी श्रद्धा और विश्वास की शक्ति है सम्यग् दर्शन। हमारे जानने की शक्ति है सम्यग् ज्ञान। हमारा कर्मयोग है सम्यग् चारित्र। इन तीनो की समन्विति मोक्ष-मार्ग है।

भागवत में लिखा है–

योगस्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च, नोपायोन्योस्ति कुत्रचित्।।

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग श्रेयमार्ग का प्रतिपादन करने के लिए हैं। श्रेय के ये ही उपाय हैं, दूसरे नही।

दो तट : एक प्रवाह

आज की भाषा मे कहा जा सकता है – समग्र जीवन जीने के लिए

तीन योग बतलाए गए। एक है ज्ञान का तट और एक है भक्ति का तट, दोनो के बीच में कर्म की नदी का प्रवाह चले तो जीवन निर्मल रहेगा। यदि प्रवाह के दोनों ओर ज्ञान और भक्ति के तट नहीं होते हैं या तटबंध टूट जाते हैं तो समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। इनके बिना समग्र जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन जीने का परिपूर्ण रास्ता यही है, शेष सारे रास्ते अपूर्ण हैं।

हम विश्व की स्थिति को देखें। लोगो ने कर्म पर बहुत बल दिया — कर्म करो, उत्पादन करो। उत्पादन और वितरण पर बल दिया, भक्ति पर बल नहीं दिया इसलिए उत्पादन और वितरण की प्रणाली भी सफल नहीं हो सकी। ज्ञान पर, यान्त्रिकी-आभियान्त्रिकी पर बल दिया गया किन्तु साथ मे भक्ति का योग नही मिला। वे क्रम भी सफल नही हो सके। जीवन में जो सरसता आनी चाहिए थी, वह नहीं आ पाई। ज्ञान, भक्ति और कर्म — इन तीनों में एक की भी कमी रह जाती है तो बात पूरी नही होती।

एक कमी है

खपुटाचार्य प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। उनके पास आकाशगामिनी सिद्धि थी। हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री नागार्जुन ने इसकी उपलब्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया। आकाशगामिनी विद्या को सीखने के लिए वे खपुटाचार्य की उपासना करने लगे। खपुटाचार्य ज्योंहि आकाश से जमीन पर आते, नागार्जुन उनके पैर धोते। आचार्य पैर मे कुछ रसायनों का लेप करते थे। नागार्जुन पैर धोने के बाद उस लेप को चखकर उसमें मिश्रित द्रव्यों को जानने का प्रयत्न करते। उस लेप मे एक सौ आठ औषधियो का मिश्रण था। नागार्जुन ने उस लेप को चखते-चखते एक सौ सात औषधियां खोज ली। उन औषधियों से नागार्जुन ने लेप का निर्माण भी कर लिया। वे आकाश में उड़ते और थोड़ी दूर जाते ही वापस गिर जाते। नागार्जुन इस समस्या का हल नही ढूंढ पाए। उन्होंने आचार्य से निवेदन किया — गुरुदेव! मुझे एक सौ सात चीजे तो मिल गई हैं किन्तु एक तत्त्व का पता नही चला। आप कृपा कर बताएं — वह क्या है? आचार्य ने समाधान दिया — इस

मिश्रण में चावलों का मांड और मिला लो, परिपूर्णता आ जाएगी।

समग्र जीवन की परिभाषा

जीवन की लंबी यात्रा को वही व्यक्ति तय कर सकता है, जिसके जीवन में परिपूर्णता आ जाए। ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग– तीनों मिलते है तो जीवन में पूर्णता आती है, जीवनशैली शातिमय और सुखद बन जाती है। अन्यथा लोग जीते तो हैं किन्तु मर मर कर जीते है क्योंकि वे समग्र जीवन की कला को नहीं जानते। भारतीय दर्शन मे समग्र जीवन की जो परिभाषा की गई, वह यही है – क्रिया की शक्ति, जानने की-शक्ति, समर्पण की शक्ति – सब कुछ विलीन करने की शक्ति – इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न जीवन समग्र जीवन है। आचारांग और गीता के तुलनात्मक अध्ययन से समग्र जीवन की यह अवधारणा सहज ही प्रस्तुत हो जाती है।

समता, क्षमता और स्थिरता

आचारांग का अनुशीलन करने पर तीन तत्त्व फलित होते हैं – समता, क्षमता और स्थिरता। महावीर का अहिंसा का सिद्धांत समता पर आधारित है। आचारांग का प्रवक्ता सामर्थ्य के बिना कुछ सोचता ही नहीं है। महावीर ने कहा – मैंने जो पराक्रम किया है, शक्ति का उपयोग किया है, तुम उसे देखो, अपनी शक्ति को मत छिपाओ। अपने सामर्थ्य का पूरा उपयोग करो। महावीर किसी को आलसी देखना नहीं चाहते थे। समता भी है, क्षमता भी है किन्तु स्थिरता नही होती है तो भी पूर्णता नहीं आती। जीवन शैली के तीन अंग बन गए– समतामयी जीवन शैली, क्षमतामयी जीवन शैली और स्थिरतामयी जीवन शैली।

गीता का जीवन-दर्शन

गीता के जीवन-दर्शन को देखें। यह विचित्र बात है – युद्धभूमि पर जो बात कही जा रही है, उससे भी यही जीवन का दर्शन फलित होता है। गीता का अध्ययन करने पर भी त्रिआयामी जीवनशैली का स्वरूप सामने आता है। गीता का प्रसिद्ध वाक्य है – समत्वं योग उच्यते। समता को योग कहा गया। योग और संयम – दो बात नहीं हैं। योग

का अर्थ है– चित्तवृत्ति का निरोध। संयम का अर्थ भी यही है। गीता में उपरति को मूल्य दिया गया है। वृत्ति का मतलब है चंचलता ही चंचलता और उपरति का मतलब है – स्थिरता। गीता में भक्ति का भी बहुत प्रयोग किया गया है। श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं – पश्य मे योगमैश्वर्यम् – मेरे ऐश्वर्यपूर्ण योग को देख।

दर्शन आकाशी कल्पना नहीं है

यदि गीता को मध्यस्थ दृष्टि से पढ़ें तो यह किसी एक दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं लगता। इसमें सर्वसंग्राहिता है। आचारांग और गीता के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य अधिक पुष्ट हो रहा है। समस्या यह है – दर्शन को केवल आकाशी कल्पना जैसा मान लिया गया और उसे जीवन की मुख्य धारा से तोड़ दिया गया। ऐसी मान्यता बन गई – जीवन है जीने के लिए, भोग भोगने के लिए और दर्शन है दिमागी व्यायाम के लिए। इस गलत धारणा से जीवन और दर्शन – दोनों का संबंध टूट गया। यह बहुत बड़ी समस्या है। कोरा तत्त्वज्ञान सीखने से क्या होगा? यदि तत्त्व या दर्शन जीवन में नहीं उतरा तो उसका ज्ञान किस काम का है? तत्त्वज्ञान को कर्म-ज्ञान की संज्ञा में लाएं, उसे जीवन में उतारकर जीवन जिएं तभी दर्शन और जीवन की सार्थकता हो सकती है। हम आचारांग को लें या गीता को लें। ये दोनों जीवन के प्रायोगिक दर्शन हैं। ये केवल जानने के लिए ही नहीं, जीवन में प्रयोग करने के लिए हैं। इन्हें शास्त्रों का भार न बनाएं, इनके मर्म को समझें। यदि दर्शन जीवनमय बन जाए, ज्ञान और आचार अलग-अलग न रहे तो हमारा जीवन परिपूर्णता की ओर बढ़ता चला जाएगा। गीता और आचारांग का मुख्य संदेश यही है।

आचारांग और उपनिषद् (1)

वर्तमान शिक्षा की एक समस्या है – शिक्षा से बौद्धिक विकास बहुत हो जाता है किन्तु उससे जीवन मे आने वाली समस्याओ से जूझने की, उनका समाधान पाने की क्षमता नहीं जागती है या बहुत कम जागती है। यह समस्या आज की नहीं है, उपनिषद् काल मे भी यह समस्या रही है।

नारद की समस्या

नारद सनत्कुमार के पास आए और बोले – मुझे ऐसी विद्या दो, जिससे मै शोक से तर जाऊ।

सनत्कुमार ने पूछा – बताओ! तुमने क्या क्या पढ़ा है?

नारद ने कहा – मैने ऋग्वेद को पढा है। जितने वेदाग होते है, उन सबको सागोपांग पढा है।

सनत्कुमार बोले – जिससे शोक को तरा जाता है, वह तुमने नहीं पढा है। जब तक तुम आत्मा को नहीं जानते तब तक शोक को नही तर सकते।

'शोक तरति आत्मविद्' – जो आत्मविद् होता है, वही शोक को तर सकता है। संयोग - वियोग की दुनियां में जीने वाला आदमी, जो केवल भौतिक विज्ञान को जानता है, जीवन की समस्याओं का, शोक और विषाद का पार नहीं पा सकता। हर्ष और शोक से परे वही जा सकता है, जो आत्मा को जानता है।

उपनिषद् मे आत्मा का बहुत बड़ा प्रकरण है। मूलतः आत्मविद्या पहले क्षत्रियो के पास थी और उनसे वह ब्राह्मणो को प्राप्त हुई।

बदलाव का शक्तिशाली साधन

भगवान् महावीर ने कहा – सग को देखो, आसक्ति को देखो। आसक्ति

बहुत सताती है। लोग उसे छोडना चाहते हैं पर वह छूटती नहीं है। कारण यह है – हम देखना नहीं जानते। समस्या का समाधान है प्रेक्षा। जब तक हम किसी वस्तु का साक्षात्कार नही कर लेते तब तक वह छूटती नही है। आदतो से छुटकारा पाने का यह अचूक उपाय है। चाहे जैसी भी आदत हो, यदि उसे छोड़ना है तो उसका एक मात्र शक्तिशाली साधन है प्रेक्षा। जब व्यक्ति देखना सीख लेता है, आदत अपने आप छूट जाती है। उसे छोड़ने के लिए प्रयत्न नहीं करना पडता। जो बदलाव प्रेक्षा से आता है, वह अनेक बार पढने-सुनने से नहीं आ सकता। अनेक बार उपदेश पढने-सुनने वाला आदमी जैसा का तैसा बना रहता है और देखने वाले आदमी मे बदलाव घटित हो जाता है।

चिन्तन : दर्शन

हम सोचना जानते है, देखना नही जानते। सोचना मस्तिष्क का काम है पर देखने के लिए और गहरे मे जाना होता है। देखने की शक्ति आत्मा की शक्ति है। वह है अनुभव। जहां देखना शुरू होगा वहा चिन्तन एक बार बद हो जाएगा। चिन्तन और दर्शन – दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। आसक्ति को देखो, आसक्ति छूट जाएगी। उसका साक्षात्कार होगा तो सारी समस्याएं स्वत· सुलझ जाएंगी।

मूलकारण है आत्मा

उपनिषद् का प्रसग है। पूछा गया – यह पात्र क्या है? उत्तर मिला– मिट्टी है। प्रतिप्रश्न हुआ – मिट्टी कैसे है? कहा गया – यह सारा मिट्टी का विकार है। मृदेव सत्यं – सचाई है मिट्टी। मिट्टी मूल है, और सब उसके परिणमन हैं। ठीक इसी प्रकार मूल है आत्मा। जिसने मूल कारण को, आत्मा को नही जाना, उसकी वृत्तिया – शोक, हर्ष, भय, ईर्ष्या, लोभ आदि कभी मिटने वाली नही हैं। इन विकारो का मूल सबंध हमारी आत्मा की काषायिक परिणति के साथ जुडा हुआ है। यदि हम आत्मा को नही मानते तो इनका समाधान कैसे होगा? इन सारी समस्याओ को मिटाने के लिए मूल कारण को खोजना होगा और वह है आत्मा।

पराविद्या का मूल्य

कठोपनिषद्, छादोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् आत्मा के

बारे में बहुत चर्चा करते है। जो केवल भौतिक विद्याएं पढते थे, उपनिषद् के ऋषि उनसे कहते – तुम आत्मा को नहीं जानते तो कुछ भी नही जानते। जब तक तुम पराविद्या को नहीं जानते तब तक तुम्हारा कोई समाधान नहीं हो सकता। आज की भाषा में जो परामनोविज्ञान को नही जानता, वह अपनी समस्याओं को नहीं सुलझा सकता। कोरा मनोविज्ञान काम नहीं देता। मनोविज्ञान सिर्फ मन तक रह जाता है और मन हमारी चेतना का एक नीचे का स्तर है। जब तक आदमी मन की भूमिका पर रहेगा तब तक वह फुटबाल की तरह इधर-उधर उछलता रहेगा। हमें मन के बहुत पार जाना है। जब तक आदमी मनोतीत भूमिका में नहीं जाएगा तब तक मन के खेल चलते रहेंगे। मन की भूमिका से परे जाने पर ही व्यक्ति आत्मा की भूमिका पर आरूढ हो सकता है।

आचारांग : आत्मा का सूत्र

आचारांग आत्मा के आरोहण का सूत्र है। हम आचारांग सूत्र का आदि प्रकरण पढे, उसके मध्य को पढ़ें, उसके अत को पढे – सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। आत्मा को छोड़ दे तो आचारांग कुछ भी नहीं है। महावीर के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है – आत्मा। आत्मा को समझे बिना न ध्यान को समझा जा सकता है, न चित्त और मन को समझा जा सकता है। जिस व्यक्ति ने आत्मा को जान लिया, अपने आपको पहचान लिया, उसकी दुनियां बिलकुल अलग हो जाएगी। उपनिषद् का ऋषि बोले या आचारांग का सूत्रकार, सचाई यही है– जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया, उसने दुनियां मे आने वाले संकट और समस्याओं का पार पा लिया।

आत्म-विज्ञान

जैन धर्म में आस्था रखने वाले लोग लंबी-लंबी तपस्याएं करते हैं। वर्षावास के दिनों में तपस्याओ का अटूट सिलसिला-सा चल पडता है। यह तपस्या की प्रेरणा कहां से आती है? खाने की प्रेरणा तो आ सकती है क्योकि भूख एक मौलिक मनोवृत्ति है पर भूखे रहने की प्रेरणा कहां से आती है? वह है आत्मा की प्रेरणा। आज एक नई शाखा के विकास की जरूरत है – आत्म-विज्ञान या चित्त-विज्ञान। आत्म-विज्ञान के संदर्भ मे कहा जाएगा – जैसे भूख मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है वैसे ही उपवास

और तपस्या करना आत्मा की एक मौलिक मनोवृत्ति है। आत्मा का स्वभाव तो न खाना है। जो खाया जा रहा है, वह मन के स्वभाव के कारण खाया जा रहा है।

आचारांग और उपनिषद् का रहस्य-सूत्र

आत्मा को पकडना मूल बात को पकडना है। अगर हम इस मूल सचाई को पकड लेते हैं, आत्मा को समझने का प्रयत्न करते है तो उपनिषद् का सार भी समझ में आएगा, आचारांग का हृदय भी पकड मे आएगा और वह सत्य, जो केवल सत्य है, अद्वैत के रूप मे हमारे सामने आएगा। जरूरी है शास्त्रों के साथ साथ आत्मा को पढना। इसके बिना शास्त्र कभी सहायक नही बनेगा। शास्त्र का काम है दिशा दिखा देना। वह कभी साथ नही चलता। हमारे साथ चलेगी हमारी आत्मा इसलिए हम आत्मा के बारे मे चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करें, श्रवण, ज्ञान और विज्ञान करें। आत्मा को पा लिया तो आचारांग और उपनिषद् का सम्पूर्ण रहस्य पा लिया, सारे शास्त्रों का ज्ञान हस्तगत कर लिया। आचारांग और उपनिषद् के तुलनात्मक अध्ययन एवं अन्वेषण का अर्थ है – आत्म - साक्षात्कार की दिशा में प्रस्थान।

जितना बाहर से लेगा, वह उतना ही दबा रहेगा। जो व्यक्ति बाहर से जितना कम लेगा, वह उतना ही स्वतंत्र होता चला जाएगा, खिल जाएगा, व्याप्त हो जाएगा। जो जितना कर्ज लेता है, वह उतना ही भार से दब जाता है। अपनी पूंजी से व्यापार करने वालों को कोई चिन्ता नहीं होती। हम सारा का सारा कर्ज ले रहे हैं, बाहर से आयात कर रहे हैं।

आचारांग की प्रस्थापना

जैन दर्शन कहता है – जितना आदान है, उतनी ही हमारी शक्तियां दबी हुई है। हम जितना आदान का निषेध करेंगे उतना ही उत्तम होगा, हमारी अनन्त शक्ति का दरवाजा खुल जाएगा।

आचारांग की यह महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है – हम किसी दूसरी शक्ति की अभिव्यक्ति नही है किन्तु अपनी स्वतत्र सत्ता से सचालित हैं। जहां उपनिषद् एक ब्रह्म की स्थापना करता है वहा आचाराग अनेक ब्रह्म की स्थापना करता है। जैन दर्शन मे एकात्मवाद नही, अनेकात्मवाद मान्य है। जहा अनेकात्मवाद मान्य होगा वहां द्वैतवाद की संभावना बहुत बढ़ जाएगी।

जडाद्वैत : चैतन्याद्वैत

यह समझने में बड़ी कठिनाई है कि चैतन्य के द्वारा ही सारा संचालित हो रहा है, चैतन्य मे से जड उपजा है। एक प्रश्न होता है – जब चैतन्य मे इतनी ताकत है कि उसने जड को पैदा कर दिया तो चेतना को भरना उसके लिए कौनसी बड़ी बात थी? दूसरा प्रश्न है –अगर चैतन्य से जड पैदा होता है तो जडाद्वैतवाद, नास्तिकवाद या चार्वाक के इस सिद्धान्त – जड मे से चेतना पैदा होती है – को कैसे रोका जा सकता है? इस दर्शन के समरांगण मे दो सेनाएं आमने-सामने खड़ी हैं – एक है अद्वैतवादी सेना और दूसरी है जडाद्वैतवादी सेना। एक का कहना है – सब कुछ चैतन्य से पैदा हुआ है तो दूसरी का कहना है – सब कुछ जड़ से पैदा हुआ है। पहली सेना का मोर्चा जितना शकि [illegible] है उतना ही शक्तिशाली है दूसरी सेना [illegible]। यदि चे[illegible] पैदा हो सकता है तो अचेतन मे [illegible] नहीं हो [illegible] का समाधान करना भी बहुत [illegible]ना। को [illegible] सीध

कर लें तो बात ठीक हो सकती है। इस स्थिति में यथार्थवाद बहुत समाधानकारक लगता है।

यथार्थवाद

द्वैतवाद का मतलब है यथार्थवाद।' दोनो का स्वतंत्र अस्तित्व है – चेतन का अपना अस्तित्व और अचेतन का अपना अस्तित्व। लोक व्यवस्था का एक सूत्र है – न कभी ऐसा हुआ है , न कभी ऐसा होता है और न कभी ऐसा होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए। जीव और अजीव – इन दोनों में अत्यन्ताभाव है। दोनो कभी भी एंक दूसरे में नही बदलते। यही है द्वैतवाद। द्वैतवाद का मतलब है – दुनिया में जो कुछ भी है, उसका मूल कारण एक नहीं है, दो हैं। चेतन और जड़ की अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

समाधान-सूत्र

आज परामनोविज्ञान के क्षेत्र मे यह चर्चा का विषय है – शरीर और मन का संबंध कैसे हुआ? शरीर अचेतन–जड है और मन चेतन है। दोनो की स्वतत्र सत्ता है तो दोनो का सबध कैसे? यह एक समस्या है। इसका समाधान अनेकान्त के द्वारा ही किया जा सकता है। शरीर का चेतना पर और चेतना का शरीर पर प्रभाव होता है, आचाराग की इस बात को स्वीकार करे तो समस्या को एक समाधान उपलब्ध होता है। उपनिषद् एव आचाराग और इनसे उपजने वाले द्वैतवाद-अद्वैतवाद केवल दार्शनिक पहेली ही नही हैं, हमारे जीवन-व्यवहार से जुडे हुए तत्त्व हैं। इनके आलोक मे हम अपने जीवन-दर्शन की मीमासा कर सकते हैं।

पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्

मेरे सामने दो ग्रंथ है—पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्। पातंजल योगदर्शन दो हजार वर्ष पुराना ग्रन्थ है और मनोनुशासनम् पच्चीस-तीस वर्ष पुराना। दोनों की तुलनात्मक दृष्टि से मीमांसा करनी है। वस्तुतः तुलना करना बहुत कठिन भी है और बहुत सरल भी है। कोई भी विषय ऐसा नही है, जो किसी एक बिन्दु पर समान न होता हो। एक बिन्दु ऐसा आता है, दोनों ग्रन्थ समान भूमिका पर आ जाते हैं। जहां इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। ऐसे कुछ बिन्दु और हो सकते हैं, जो एक समान प्रतीत होते है किन्तु वह वास्तविक तुलना नहीं है। किस ग्रन्थ की आधार-भूमि क्या है? किस पृष्ठभूमि के आधार पर उसका दर्शन पनपा है, विकसित हुआ है? इन प्रश्नो के संदर्भ में जो तुलना होती है, वह वास्तविक होती है।

धर्म की दो धाराएं

पातजल योगदर्शन साख्य दर्शन की साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ है। मनोनुशासनम् जैन साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ है। दोनों के पीछे अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। आश्चर्य यह है कि दोनों में बहुत समानता है। दोनों निवृत्तिवादी धारा के प्रतिनिधि ग्रथ हैं।

धर्म की दो धाराए रही हैं—प्रवृत्तिवादी धारा और निवृत्तिवादी धारा। प्रवृत्तिवादी धारा का उद्देश्य है—स्वर्ग। निवृत्तिवादी धारा का उद्देश्य है—मोक्ष, निर्वाण या शांति। प्रवृत्तिवादी धारा का साधना मार्ग है—ईश्वर की पूजा करना, ईश्वर की आराधना करना, दान-पुण्य करना आदि। निवृत्तिवादी धारा मे जो साधना मार्ग है, उसमे निरोध की बात मुख्य है—आश्रव का निरोध करना, क्लेश का निरोध करना आदि। निर्वाण के लिए निरोध जरूरी है। उसमे ईश्वर पूजा या दान-पुण्य की कोई मुख्यता नहीं है।

योग शब्द की व्यापकता

निर्वाण की साधना प्रारंभ होती है निरोध से। पतंजलि ने अपना साधना का मार्ग 'योग' से शुरू किया। आज योग शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। यद्यपि जितनी निवृत्तिवादी धाराएं रही हैं, उनमें 'योग' शब्द सामान्य रूप से प्रचलित रहा है। जैन, बौद्ध और सांख्य–इन तीनों में योग शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। जैन धर्म मे योग शब्द के अनेक आयाम विकसित हुए हैं–तपोयोग, भावनायोग, संवरयोग, स्वाध्याययोग आदि आदि। योग की एक समग्र पद्धति रही है। महर्षि पतजलि ने योग-दर्शन का निर्माण किया और उसमें 'योग' शब्द को बहुत व्यापकता दी। पातंजल योगदर्शन योग का एक व्यवस्थित ग्रन्थ है। साधना के मार्ग में ऐसे व्यवस्थित ग्रंथ बहुत कम हैं। पातंजल योगदर्शन का पहला सूत्र है–**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**–चित्तवृत्ति का निरोध करना योग है। निरोध है योग। योग का एक अर्थ जोड़ना भी होता है लेकिन प्रस्तुत प्रसंग मे योग का अर्थ है–निरोध, समाधि। कहा जा सकता है–पातंजल योगदर्शन समाधि का सूत्र है। उसमें समाधि की पूरी प्रक्रिया बतलाई गई है।

योग : क्रियायोग

मनोनुशासनम् जैन परंपरा से जुडा हुआ ग्रन्थ है। इसमें दो बातें मुख्य हैं–निरोध और शोधन। धर्म के दो प्रकार हैं–सवर और निर्जरा। संवर है–योग-निरोध। निर्जरा है–शोधन। हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करे–निरोध के लिए शोधन बहुत आवश्यक है। संवर की अर्हता–निरोध की योग्यता बाद मे प्राप्त होती है। उससे पहले शोधन करना होता है। हम शोधन करे। शुद्धि होते-होते निरोध करने की क्षमता आती है। चित्त-वृत्ति का निरोध करना योग है, यह सूत्र तो ठीक है लेकिन इससे बात पूरी नहीं होती। पतजलि को दो सूत्रो का निर्माण करना पडा–**चित्तवृत्तिनिरोधो योगः** तथा **तपःस्वाध्याय- प्रणिधानानि क्रियायोगः**। योग और क्रियायोग–दोनो आवश्यक हैं। केवल योग से काम नहीं चल सकता, चित्तवृत्ति के निरोध से काम नही चल सकता। पहले निरोध होना ही कठिन है इसलिए उसके दो विभाग कर दिए गए–योग और क्रियायोग।

योग : मौलिक परिभाषा

मनोनुशासनम् उत्तरकालीन रचना है इसलिए उसमें प्रारम्भ से ही शोधन और निरोध—दोनों का समावेश है। योग की एक सर्वथा नई परिभाषा, जो शायद किसी भी प्राचीन ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है, मनोनुशासनम् में है। योग की यह बिलकुल मौलिक परिभाषा है—**मनोवाक्काय-आनापान-इंद्रिय-आहाराणां निरोधो योगः। शोधनं च। पूर्व शोधनं ततो निरोधः।** मन, शरीर, वाणी, आनापान, आहार और इन्द्रिय—ये छह पर्याप्तियां हैं, जीवनी- शक्तियां हैं। इन सारी शक्तियों का निरोध करना, इसका नाम है योग। केवल चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं, इन सबका निरोध है योग। चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थ है मन का निरोध। मन के साथ सारी चित्त की वृत्तियां आ जाती हैं। वाक् का निरोधं, शारीरिक प्रवृत्ति का निरोध, आनापान का निरोध, आहार और इन्द्रियो का निरोध—इन सबका निरोध होता है तब योग—समाधि घटित होती है। विपरीत क्रम से चले तो सबसे पहले होगा आहार का निरोध। निरोध से भी पहले जरूरी है शोधन।

जरूरी है शुद्धि

अहमदाबाद के एक योग विशेषज्ञ हैं श्री दिवाकर पाण्डे। योग के सदर्भ में उनसे चर्चा चली। श्री दिवाकर पाण्डे ने कहा—जब तक मलों की शुद्धि नही होती, योग की बात कभी सफल नहीं हो सकती। केवल स्थूल शरीर के मलो की शुद्धि ही जरूरी नही है बल्कि प्राणशरीर और सूक्ष्मशरीर मे जो मल जमे हुए हैं, उनकी शुद्धि भी जरूरी है। जैन दर्शन की भाषा मे कहें तो कर्मशरीर की विशुद्धि, तैजस शरीर की शुद्धि और तैजस शरीर के द्वारा आभामण्डल—लेश्या की शुद्धि, स्थूल शरीर की शुद्धि—जब तक इन सबका शोधन नहीं होता, निरोध की बात सभव नही बनती। रोकना कठिन नही है, पर प्रश्न है रोके कैसे? जब तक शोधन नही होता, निरोध का प्रश्न समाहित नही होता। रोकने में कितने व्यवधान आते हैं! कितनी प्रतिक्रियाएं होती हैं! हम आदमी की बात छोड दे, जड वस्तु भी प्रतिक्रिया कर देती है।

प्रतिक्रिया : निदर्शन

एक आदमी छाता लिए चल रहा था। धूप आई, उसने छतरी को खोला और सिर पर तान लिया। वर्षा आई तब भी उसने ऐसा ही किया। यह क्रम दस-बीस दिन लगातार चलता रहा। एक दिन छतरी ने हाथ से कहा—तुम मुझे छोड़ दो। यह आदमी मुझे बहुत परेशान कर रहा है। जब भी कुछ कठिनाई आती है, मुझे अपने सिर पर तान लेता है। वर्षा और धूप आती है तो मुझ पर गिरती है। सारा कष्ट मैं सहन करूं और यह आराम से चले, ऐसा नहीं होना चाहिए। तुम ऐसा करो—मुझे हाथ में मत रखो, छोड़ दो, फिर मैं देखती हूं कि क्या होता है? हाथ बोला—तुम भी कितनी नादान हो। तुम यह सोच रही हो कि मैं धूप और वर्षा से रक्षा कर रही हूं, पर तुम यह भी सोचो—तुमको बनाया किसने? आदमी के मस्तिष्क ने ही तुम्हारा निर्माण किया है। अन्यथा तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं होता। उसकी रक्षा करने में तुम्हें कौन-सा कष्ट हो रहा है? तुम्हारा कार्य है त्राण देना, धूप और वर्षा से बचाना।

योग : समग्र परिभाषा

अचेतन मे भी प्रतिक्रिया होती है तो चेतन आदमी के मन मे न जाने कितनी प्रतिक्रियाएं होती होंगी। जहां निरोध की बात आएगी वहां प्रतिक्रियाए होंगी। हम सबसे पहले प्रतिक्रियाओं का शोधन करें। जब तक प्रतिक्रियाओ का शोधन नही होगा, निरोध की स्थिति संभव नही बन पाएगी।

महर्षि पतंजलि ने पहले अध्याय के प्रारम्भ में योग-निरोध की बात कही और दूसरे अध्याय के प्रारंभ में क्रियायोग की बात कही। मनोनुशासनम् मे योग की परिभाषा में ही पहले शोधन और उसके पश्चात् निरोध की बात प्रस्तुत है। केवल चित्तवृत्ति के निरोध से योग की पूरी परिभाषा नहीं बनती। चित्तवृत्ति का निरोध और क्रियायोग—दोनो मिलकर योग की पूरी परिभाषा देते हैं।

शोधन तपस्या से

हम तपस्या के द्वारा शोधन करें। व्यास ने तपस्या के संदर्भ में लिखा—**तपः द्वन्द्वसहनम्**—तपस्या का अर्थ है द्वन्द्वों को सहन करना।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास—ये जितने भी परीषह हैं, द्वन्द्व हैं, इनको सहन करना तपस्या है। तपस्या का एक अर्थ है अनशन—आहार शुद्धि। जो व्यक्ति आहार-शुद्धि पर ध्यान नही देता, उसे निरोध की कल्पना ही नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति आहार की शुद्धि को नही जानता, अपान की शुद्धि को नहीं जानता, वह निरोध की साधना को नही जानता। प्राण से भी ज्यादा है अपान शुद्धि का महत्त्व। इन सबको उपलब्ध होनें के लिए तपना पड़ता है। ऐसा कोई जादू का डण्डा नहीं है, जिसे घुमाया जाए और व्यक्ति योगी बन जाए। यदि ऐसा होता तो सारी दुनिया ही योगी बन जाती। पर ऐसा होता नहीं है।

शोधन को बलवान् बनाएं

बहुत कठिन है निरोध करना। निरोध की भूमिका तक पहुचने के लिए काफी तप तपना पड़ता है, निर्जरा और शुद्धि करनी होती है। निर्जरा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है, जब निरोध की भूमिका बनती है। व्यक्ति कितने काल से निर्जरा करता चला आ रहा है! अनन्त काल से यह क्रम चल रहा है। प्रत्येक प्राणी निर्जरा करता है। कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जो शुद्धि नहीं करता। प्रत्येक प्राणी थोडी-बहुत शुद्धि तो करता ही है। जो साधना के मार्ग में जाना चाहता है, उसके लिए अधिकतम शुद्धि का मार्ग है। साधना के क्षेत्र मे जाने वाले व्यक्ति के सामने शोधन और निरोध—दोनो दृष्टिया स्पष्ट होनी चाहिए। पहले शोधन को बलवान् बनाएं। आहार की शुद्धि करें। इन्द्रियो पर जो मल जमा हुआ है, उसे हटाएं। श्वास-प्रश्वास की शुद्धि करे। वचन-तंत्र—स्वर-यत्र को शुद्ध बनाएं। शरीर और मन को शुद्ध करे। इससे वृत्तियां शुद्ध बनेगी, निरोध की स्थिति प्राप्त होगी।

समानता का धरातल

पातजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् के तुलनात्मक अध्ययन से समानता का जो धरातल प्रस्तुत होता है, उसका कारण है—सांख्य दर्शन का जैन दर्शन के अधिक निकट होना। साख्य, [illegible] वौद्ध—तीनों श्रमण परपरा के दर्शन हैं। [illegible] दर्शन प्राचीन [illegible] इतना प्राचीन नहीं है। तीनो [illegible] हैं। अ[illegible] वौद्धो

में आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति नहीं है, वहां सांख्य और जैन दर्शन में आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति है। इसीलिए सांख्य और जैन दर्शन—दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। कुछ पश्चिमी दार्शनिकों ने, जिन्होंने शायद पूरी परपरा का अध्ययन नहीं किया, यह कल्पना की—जैन दर्शन सांख्य दर्शन से निकला है। अतिनिकटता के कारण ऐसा भ्रम हो सकता है और ऐसा भ्रम हुआ भी है। सांख्य दर्शन में प्रकृति का जो कन्सेप्ट है, वह जैन दर्शन में नही है, फिर भी दोनों दर्शनों में बहुत निकटता है, यह कहने में संकोच नही होता। इसलिए पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् में सामीप्य का होना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु इनमें भेद नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता।

संदर्भ आत्मा का

साख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, सर्वथा शुद्ध मानता है। उसकी साधना पद्धति मे आत्मा इसी रूप मे स्वीकृत है। मनोनुशासनम् में आत्मा को भी परिणामीनित्य मानकर विचार किया गया है। आत्मा में भी पर्याय का परिणमन होता है। जैन दर्शन की दृष्टि से कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, जिसमें परिणमन न हो। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा अविकारी है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा वैसा नही है। जैन दर्शन के अनुसार कषाय आत्मा भी है, योग आत्मा भी है। जहां कषाय आत्मा और योग आत्मा है वहां आत्मा के साथ मन भी लगा हुआ है। जैन दर्शन की प्रक्रिया में स्थूल शरीर के बाद तैजस शरीर, तैजस शरीर के बाद कर्म शरीर, कर्म शरीर के बाद कषाय और उसके बाद चैतन्य है। चैतन्य के साथ कर्म परमाणु इतने जुडे हुए हैं कि एक आत्मा के प्रदेश पर अनंत अनंत कर्म परमाणुओं के स्कन्ध चिपके हुए हैं। जैसे दूध और पानी मिल जाता है वैसी ही स्थिति आत्मा और कर्म की बनी हुई है। जैन दर्शन में साधना की प्रक्रिया केवल शरीर-शोधन की प्रक्रिया नहीं है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया भी है। मुख्य है आत्मा। साधना का सारा चिन्तन इसी आधार पर विकसित हुआ है।

संदर्भ अनुप्रेक्षा का

हम विकास की दृष्टि से देखें। मैत्री, प्रमोद, करुणा और

मध्यस्थता—ये सारी ध्यान की निष्पत्तियां हैं। जो व्यक्ति ध्यान करता है, अध्यात्म की साधना करता है, उसमें इन चारो भावनाओं का विकास होना चाहिए। जिस साधना से ये भावनाएं नहीं जागतीं, वह कोरी प्राण की साधना है। प्राणिक साधना में सिद्धियां होगी, चमत्कार होंगे, किन्तु आध्यात्मिक साधना की जो निष्पत्तियां हैं, वे भाव-विशुद्धि से जुडी होती हैं—अगाध मैत्री का विकास, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता का विकास। ऐसी प्रमोद भावना जागती है, जिससे गुण-ग्रहण की भावना प्रबल बनती है। दूसरों का विकास व्यक्ति को प्रमोद और हर्ष से भर देता है। उसके मन में कभी ईर्ष्या पैदा नहीं होती। जैन दृष्टि से मनोनुशासनम् में भावनाओं का विकास मिलता है। सोलह भावनाओं में से चार भावनाएं पातंजल योगदर्शन में उपलब्ध हैं। साधना की दृष्टि से अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओ का बहुत महत्त्व है। साधना की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा विकास है।

मैत्री साधना नहीं, साधना की निष्पत्ति है। करुणा और प्रमोद, साधना नहीं, साधना की निष्पत्तियां हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास ही साधना है। महावीर ने दीक्षित होने से पहले गृहस्थ जीवन मे छह मास तक अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया था। अनित्य अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होगा तो मैत्री भावना का विकास होगा। मैत्री भावना का विकास इतना आसान नहीं है। प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का भाव इतना प्रबल है कि मैत्री की बात सोचना भी कठिन है। मैत्री और प्रमोदभाव का विकास कोई खिलौना नहीं है, जिसे जब चाहे बाजार से खरीदा जा सके। आदमी की मनोवृत्ति ही ऐसी बनी हुई है कि वह हर कार्य में बुराई देखता है, कठिनाइयां पैदा करना पसन्द करता है।

महान् आदमी का कार्य

एक वार सूरज के मन में विकल्प उठा—मैं दुनिया का कितना उपकार करता हूं। मैं प्रकाश देता हूं, सोए लोगो को जगाता हूं। मेरे उदित होते ही चोरी-डकैती सब वन्द हो जाती हैं। सारे लोग अपने काम-धन्धे मे लग जाते हैं। मेरा अस्तित्व है तो सारी दुनिया है। मैं न रहूं तो दुनिया कुछ भी न रहे। मुझे जानना चाहिए—दुनिया मेरे वारे में क्या सोचती है?

सूरज ने अपनी पत्नी से कहा–चलो, मनुष्य लोक में चलें। हम देखेगे–लोगों के मन में हमारे प्रति क्या धारणा है? जनता हमारे बारे में क्या सोचती है? दोनो वेष बदलकर धरती पर आए। दोनों वाजार मे गए। वहां बहुत सारे लोग बैठे हुए थे। सूरज वोला–देखो! सूरज कितना अच्छा है। कितना प्रकाश दे रहा है।

एक आदमी बोला–क्या प्रकाश दे रहा है? इस भयंकर गर्मी में सारा शरीर झुलस रहा है। हम तो चाहते हैं–सूरज चला जाए, आकाश में बादल छा जाएं, बरसात आए।

सूरज कुछ आगे बढा, दूसरे मौहल्ले में पहुंचा। अपना वही प्रश्न लोगों के सामने रखा। लोग बोले–सूरज वड़ा धोखेवाज है। अगर कोरी रात होती, अंधेरा होता तो धोखा नहीं होता। सूरज जव छिप जाता है, समस्या पैदा कर देता है। या तो प्रकाश करना नहीं चाहिए और प्रकाश दे तो फिर निरन्तर देना चाहिए।

सूरज ने शहर के अनेक भागों में अपने वारे में होने वाली प्रतिक्रियाओं को सुना। बहुत कम लोग ऐसे मिले, जो सूरज की प्रशंसा कर रहे थे। चारो तरफ अपने बारे में होने वाली नुक्ता-चीनी से सूरज परेशान हो उठा। वह खिन्न स्वर में बोला–इन लोगों का भला करना काम का ही नहीं है। अव हम उगना ही बंद कर देंगे। कल से आएंगे ही नही इस लोक में। कहीं एकान्त गुफा में जाकर वैठ जाएंगे।

सूरज की पत्नी ने कहा–महाराज! आप जैसे यशस्वी-प्रतापी राजा को ऐसा चिन्तन शोभा नहीं देता। क्या आप नहीं जानते–क्षुद्र आदमी का काम है ढेला फेंकना और महान् आदमी का काम है उसे झेलना। महान् आदमी क्षुद्र व्यक्तियों के व्यवहार से क्षुव्ध होकर कभी अपना काम बंद नही करते।

योग : नई दिशा

यह ढेला फेंकने की वात दुनियां में चलती रहती है। जव तक अनुप्रेक्षाओं का दृढ अभ्यास न हो जाए तव तक क्षुद्रता की मनोवृत्ति को मिटाया नही जा सकता। अनित्य, एकत्व और अन्यत्व–ये तीन अनुप्रेक्षाएं अध्यात्म जागरण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनके

बिना अध्यात्म की बात, मैत्री उत्पन्न करने की बात सोची नहीं जा सकती। अनुप्रेक्षाओं का यह विकास, जैन दर्शन की साधना पद्धति में हुआ है, पातंजल योगदर्शन में नहीं हुआ है। ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो मनोनुशासनम् और पातंजल योगदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की आधार-भूमि बन सकते हैं। अपेक्षा है इन दोनों ग्रन्थों के गहन अनुशीलन की। यदि हमारा अध्ययन इस दिशा में आगे बढे तो प्राचीन और अर्वाचीन योग को एक नई दिशा उपलब्ध हो सकती है।

दर्शन

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

आज से ढाई हजार वर्ष पहले का भारतवर्ष। यही भूमि, यही आकाश, यही चांद, सूरज और सितारे। इस धरती पर कुछ परिवर्तन हो रहा था। कुछ क्रातियां घटित हो रही थी। विचारों का उद्वेलन हो रहा था। कुछ नई स्थापनाएं सामने आ रही थी और कुछ पुरानी स्थापनाएं समाप्त हो रही थीं। उस वातावरण में दो महापुरुषो ने जन्म लिया। एक थे महावीर और दूसरे थे बुद्ध। दोनो ने क्षत्रिय राजकुल में जन्म लिया। महावीर इक्ष्वाकुवश मे जन्मे और बुद्ध शाक्यवश में। महावीर वैशाली गणतंत्र मे पैदा हुए और बुद्ध शाक्य गणतत्र मे। दोनों ने गृह का त्याग किया, मुनि बने। महावीर ने श्रमण परंपरा में निर्ग्रथ परंपरा का उन्नयन किया और बुद्ध ने श्रमण परपरा मे बौद्ध परपरा को जन्म दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा करे तो यह निष्कर्ष निकलेगा—महावीर और बुद्ध — दोनो ने पार्श्व की परपरा का अनुगमन किया।

पार्श्व का प्रभाव

भगवान् पार्श्व तेईसवे तीर्थकर थे। महावीर चौबीसवें तीर्थकर बने। बुद्ध का सीधा सबंध पार्श्व की परपरा से नही जुड़ा किन्तु बुद्ध ने जिस शव्दावली को अपनाया, जिस परिभाषा को अपनाया, वे सारी की सारी शव्दावलियां और परिभाषाएं पार्श्व की शव्दावलिया और परिभाषाए थी। उससे ऐसा स्पष्ट होता है—पार्श्व और बुद्ध की भाषा मे बहुत निकटता थी, पार्श्व और महावीर की भाषा मे बहुत निकटता थी। इसीलिए महावीर और बुद्ध की भाषा भी एक जैसी मिल जाती है। आश्रव, सवर, निर्वाण आदि-आदि जो साधना के शव्द हैं, परिभाषाए हैं, वे जैन और बौद्ध—दोनो धर्मो मे समान रूप से मिल जाती हैं। इसीलिए कुछ पश्चिमी विद्वानो को यह भ्रम भी हो गया—जैन धर्म वौद्ध धर्म से निकला है। यह चौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। भ्रान्तिवश ऐसी स्थापना भी कर

दी गई। वस्तुतः न जैन धर्म का उद्भव बौद्ध धर्म से हुआ है और न बौद्ध धर्म का उद्भव जैन धर्म से हुआ है। दोनों के पीछे जो पार्श्व की परंपरा है, उस परंपरा का प्रभाव—दोनों शाखाओं पर समान रूप से परिलक्षित होता है।

मध्यम मार्ग

भगवान् महावीर ने सारे दार्शनिक जगत् को देखा, दार्शनिक समस्याओं को देखा। समस्याओ का अनुशीलन कर महावीर ने विश्व को समझने के लिए, पदार्थ को समझने के लिए एक सिद्धान्त की स्थापना की और वह सिद्धान्त है अनेकान्तवाद। महावीर ने नित्य और अनित्य—दोनों अतिवादों को स्वीकार नहीं किया। एक अतिवाद है—एकान्त नित्यवाद का, कूटस्थ नित्यवाद का। एक अतिवाद है एकान्त अनित्यवाद का, क्षणिकवाद का। महावीर ने बीच का मार्ग चुना। मध्यम मार्ग है अनेकान्त। बुद्ध ने एकान्त अनित्यवाद का प्रतिपादन किया—जो अस्तित्व है, वह सब क्षणिक है। नित्य कुछ भी नहीं है। नित्य की सर्वथा अस्वीकृति और अनित्य की ऐकान्तिक स्वीकृति। महावीर का जो विचारपक्ष है, वह न नित्य की ओर झुकता है और न अनित्य की ओर झुकता है। उसका नाम है नित्यानित्यवाद। यह ठीक है कि एक प्रवाह अनित्यता का है किन्तु इसके साथ यह भी सही है—कोई भी अनित्यता ऐसी नहीं है, जिसके साथ नित्यता न हो। कोई भी उत्पाद और व्यय ऐसा नहीं है, जिसके मध्य मे ध्रुव तत्त्व न हो। कोई भी पर्याय ऐसा नहीं है, जिसके साथ अपर्याय और अपरिवर्तनशील घटक तत्त्व न हो। यह है नित्यानित्यवाद।

दार्शनिक प्रश्न : बुद्ध का चिन्तन

वह समय दार्शनिक चर्चाओं का समय था। वह उपनिषद् का काल था। दर्शन के सदर्भ मे बहुत सारे प्रश्न पूछे जा रहे थे। उसी काल मे महावीर और बुद्ध आए। उनके सामने भी वे प्रश्न आए। क्या आत्मा है? क्या परलोक है? आदि आदि प्रश्न महावीर के सामने प्रस्तुत किए गए। महावीर ने इन सारे प्रश्नो का अनेकान्त की दृष्टि से समाधान दिया—आत्मा है भी और नही भी है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार भी किया, अस्वीकार भी किया। बुद्ध के सामने भी ये प्रश्न आए। बुद्ध ने

कहा—इनके पचड़े में मत फंसो, इन दार्शनिक उलझनों में मत जाओ। तुम्हें करना क्या है? समाधि से जीना है, दुःख से मुक्त होना है। तुम दुःख से मुक्त होने की साधना करो। आत्मा है या नहीं? परलोक है या नहीं? इनमें तुम्हें क्या मिलेगा? बुद्ध ने इस भाषा में कहा—किसी व्यक्ति को तीर लगा। तीर को निकालना है, घाव भरना है, उसकी सार-संभाल और चिकित्सा करनी है। यह सब नहीं करेगा तो वह उलझन में फंस जाएगा। तीर किससे बना? तीर किसने बनाया? इनसे क्या मतलब है? जो करना है, वह तो कहीं रह जाएगा और व्यक्ति उलझन में फंस जाएगा।

चार आर्यसत्य

बुद्ध ने कहा— तुम इन दार्शनिक उलझनों में मत फंसो। तुम इन चार आर्य सत्यों की साधना करो—

१. दुःख
२. दुःख समुदय
३. दुःख का निरोध
४. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपत्ति।

ये चार आर्यसत्य हैं—दुःख है, दुःख के हेतु हैं। दुःख को समाप्त किया जा सकता है, दुःख को समाप्त करने वाली प्रतिपत्ति है, निर्वाण है। इतना जानना बहुत है। इससे ज्यादा जानना आवश्यक नहीं है।

महावीर और बुद्ध का दृष्टिकोण

महावीर ने पचास्तिकाय और नौ पदार्थ – दोनों का प्रतिपादन किया। बुद्ध का साधनामार्ग है—चार आर्यसत्य और महावीर का साधनामार्ग है – नौ पदार्थ। नौ पदार्थ मोक्ष का मार्ग है, दुःख-मुक्ति का मार्ग है। इसके साथ-साथ महावीर ने पंचास्तिकाय का भी निरूपण किया। हमारे लिए जगत् को जानना भी जरूरी है। जगत् को जाने बिना केवल दुःख-मुक्ति की बात करेंगे तो वह पूरी बात नहीं होगी। इसीलिए महावीर की दृष्टि को उभयस्पर्शी दृष्टि कहा गया। बुद्ध की दृष्टि को वर्तमानस्पर्शी दृष्टि कहा जा सकता है। बुद्ध का दृष्टिकोण रहा—वर्तमान दुःखों का प्रतिकार करना। जो समस्या सामने आए, उसका समाधान खोजना, दुःखमुक्ति का मार्ग खोजना और उसकी साधना करना। महावीर का मार्ग उभ-

मार्ग है, दु:खमुक्ति करना है तो भीतर भी जाना है, दु:ख के मूल को भी जानना है। महावीर का प्रसिद्ध सूत्र है—अग्र को समाप्त करना है और मूल को भी समाप्त करना है। केवल पत्तों और फूलों को समाप्त करने से काम नहीं चलेगा। जब तक हम जड़ की बात को नही समझेंगे, मूल बात समझ में नही आएगी। पतझड़ आएगा तो पत्ते झड जाएंगे। फिर बसंत आयेगा तो पत्ते पुन: आ जाएंगे। पत्ते आने और झडने का क्रम चलता रहेगा। जब तक दु:ख के मूल कारणों को नहीं मिटाएंगे, तब तक दु:खमुक्ति की बात प्राप्त नहीं होगी।

दु:खवादी धारा

भगवान् महावीर ने अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद—दोनों का प्रतिपादन किया। उन्होंने आत्मा को स्वीकार किया, आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में यह सबसे बड़ा अंतर है। जहां बुद्ध के दर्शन को अनात्मवाद, अनित्यवाद और दु:खात्मक—इस भाषा मे निरूपित किया जा सकता है वहां महावीर के दर्शन को आत्मवाद, नित्यानित्यवाद और दु:खात्मक—इस भाषा में निरूपित किया जा सकता है। उस समय दो धाराए प्रचलित थी—दु:खवादी धारा और सुखवादी धारा। श्रमण परंपरा मे दु:खवाद को सामने रखा गया। महावीर ने कहा—जन्म दु:ख है, बुढ़ापा दु:ख है, रोग दु:ख है, मृत्यु दु:ख है। यह संसार दु:ख-बहुल है।

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं ... य।
अहो दुक्खो हु ससारो, ... बहु।।

बुद्ध ने भी इन चारों दु:खो को स्वीक... सदर्भ में ... और जैन दर्शन दोनो समान हैं।

दु:खमुक्ति का मार्ग

दु:ख की ... जिस मार्ग
उस समय यह ... —
नहीं? वैदिक प ... स्थान
नहीं। तीन आ...
संन्यास की ... है

कोई ऐतिहासिक कठिनाई नहीं लगती—वैदिक परंपरा में संन्यास का स्वीकार श्रमण परंपरा के प्रभाव से हुआ है। वैदिक परंपरा में गृहस्थ धर्म पर बहुत बल था। सारी स्मृतियो ने गृहस्थ धर्म का बहुत महत्त्व बतलाया। गृहस्थ में रहने को सबसे ज्यादा उत्तम कहा गया। यह प्रसिद्ध वाक्य रहा—गृहस्थाश्रम जैसा धर्म न हुआ है और न होगा। कहीं साधु बनने की बात आती तो कहा जाता – तुम क्या कर रहे हो? गृहस्थाश्रम को छोडकर संन्यास आश्रम में भाग रहे हो? यह पलायनवाद है। आज संन्यास को पलायनवाद कहा जा रहा है, यह कोई नया तर्क नहीं है, बहुत पुराना तर्क है, हजारो वर्ष पुराना तर्क है। साधु बनना पलायन करना है। घर मे रहते हुए साधना करना काफी है। उस समय जो कर्मकाण्ड चल रहे थे, यज्ञ आदि चल रहे थे, उसमें संन्यास की कोई जरूरत ही नहीं थी। यज्ञ आदि के द्वारा देवताओ को प्रसन्न करना, इष्ट की साधना करना, यह गृहस्थ के लिए भी प्राप्त था। संन्यास की अलग से कोई आवश्यकता नही लगती थी। उस अवस्था मे महावीर ने कर्मकाण्ड का विरोध किया, बुद्ध ने भी कर्मकाण्ड का विरोध किया।

एक भ्रांति

इस सदर्भ मे एक बहुत बडी भ्रान्ति पनपी। उस भ्रांति को जैन लोग भी यदा-कदा दोहरा देते है। वह भ्रान्ति यह है—कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि का विरोध करने के लिए जैन धर्म का उद्भव हुआ। यह जो बात कही जाती है, वह सर्वथा गलत है। यदि इतनी छोटी बात के लिए जैन धर्म का उद्भव माने तो जैन धर्म बहुत छोटा पड़ जाए। यह सचाई है—जैन धर्म ने कर्मकाण्डो का विरोध किया, यज्ञ का विरोध किया किन्तु इनका विरोध करने के लिए जैन धर्म बना, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण और गलत है। महावीर ने जैन धर्म का जो विकास किया, वह अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण के विकास के लिए किया। एक परपरा पहले से चली आ रही थी। महावीर ने उसमे अपनी ओर से बहुत सारी नई बाते जोड दी। उन नई स्थापनाओ मे विचार के पक्ष मे अनेकान्त का दर्शन स्थापित किया। विचार के क्षेत्र में यह आज भी एक महत्त्वपूर्ण दर्शन बना हुआ है, जिसमे किसी बात को अस्वीकार नही किया जा सकता और किसी

बात को सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ है दुनिया का प्रत्येक विचार सापेक्षदृष्टि से मान्य है और निरपेक्षदृष्टि से अमान्य है। सापेक्ष विचारों का समवाय दृष्टिकोण जो महावीर ने दिया, वह एक नई और मौलिक प्रस्थापना है। इस स्थापना ने दार्शनिक उलझनो को सुलझाने में बहुत बडा योगदान दिया है।

सापेक्ष है प्रत्येक विचार

आज भी हमारे लिए अनेकान्तदृष्टि उपलब्ध है। हम प्रत्येक दर्शन को पढ़ें, विज्ञान की शाखाओं को पढ़ें, सापेक्षदृष्टि से, नयदृष्टि से पढें और यह मानें कि प्रत्येक सिद्धान्त और विचार सापेक्ष है, एक नय है।

डार्विन का जो विकासवाद का विचार है, वह एक नय है। फ्रायड़ का जो मनोविश्लेषणवाद है, वह भी एक नय है। मार्क्स का आर्थिकविश्लेषणवाद—साम्यवाद भी एक नय है। इन तीन व्यक्तियो ने वर्तमान की विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है। मार्क्स, फ्रायड और डार्विन वर्तमान की वैचारिक एवं वैज्ञानिक पीढ़ी को प्रभावित करने वाले तीन महान् व्यक्तित्व हुए है। अनेकान्तदृष्टि से देखे तो इन तीनो के विचार तीन नय है। हम इन्हे अस्वीकार नहीं करेंगे, इनका सर्वथा खण्डन नही करेगे किन्तु इनको एक नय मानेगे, पूरी बात नही मानेगे। जैन दर्शन का यह अभिमत रहा—किसी भी एक विचार को पूरा मत मानो, शत-प्रतिशत मत मानो। अमुक विचार ठीक है, यह कह सकते है पर यह मत कहो—यह विचार पूर्णत ठीक है। हमारी पूरी बात मिलकर बनती है। दुनिया मे पूरी कोई बात होती ही नही है। दुनिया का नियम ही है सापेक्षता। पूरा कुछ नहीं है दुनिया मे। चाहे आत्मा हो, परमात्मा हो, निर्वाण हो या और कुछ। सबका अपना-अपना अवकाश, अपनी अपनी सीमा और अपनी अपनी मर्यादा है।

अनेकान्त का नियम

हाथ का एक भाग है अगुली। अगुली पूरा हाथ नही है। अगूठा हाथ का एक अंग है पर वह हाथ नही है। यदि अगूठा और अगुली न हो तो हाथ का क्या उपयोग होगा? हमे किसी गिलास या पात्र को उठाना है। क्या अगुली से वह पात्र उठ जाएगा? क्या अगूठे से वह पात्र उठ पाएगा? जब अंगुली

और अंगूठा–दोनों मिलेंगे तब वह पात्र उठ पाएगा। हमें कुछ लिखना है। क्या हम केवल अंगुली से लिख पाएंगे? क्या हम केवल अंगूठे से लेखनी पकड पाएंगे? लेखनी को हम तब पकड़ पाएंगे जब अंगुली और अगूठा – दोनों का योग होगा। अंगुली के प्रतिपक्ष में है अंगूठा। अनेकांत का नियम है–विरोधी को साथ मे लिए बिना हम काम नहीं कर सकते। विरोधी को साथ मे लेकर ही हम कोई काम कर पाएंगें। यदि अगूठा अंगुली की दिशा में ही होता तो आदमी बंदर जैसा ही होता, कोई काम का नहीं होता। एक ओर चार अंगुलियां हैं और प्रतिपक्ष मे अंगूठा है तो हमारा सारा विकास हो रहा है।

अविरोध है विरोध में

अनेकान्तवाद का ध्रुव सिद्धान्त है–पक्ष है तो प्रतिपक्ष का होना जरूरी है। अन्यथा हम काम नही कर पाएंगे। विरोधी होने का मतलब दुश्मन होना नहीं है। महावीर ने अनेकान्त के साथ-साथ अहिंसा का प्रतिपादन किया। यदि महावीर अनेकान्त का प्रतिपादन करते और अहिंसा का प्रतिपादन नही करते तो अनेकान्त भी भ्रान्त हो जाता। अनेकान्त का हार्द है–सब विरोधी धर्म है, विरोधी युगल है, कोई भी अविरोधी नही है, एक दूसरे का विरोधी मिलकर काम करता है। पोजिटिव और नेगेटिव चार्ज मिलता है तो प्रकाश होता है। बिना विरोधी मिले कुछ होता नही है, यह वात बिल्कुल विषम लगती है। हम प्रत्येक विरोधी पर सदेह करते है–यह भी मेरा विरोधी है, यह भी मेरा विरोधी है–इस चिन्तन से सबको विरोधी मान लेते हैं तो काम ही नही चल पाएगा। महावीर ने इस समस्या के संदर्भ वहुत सुन्दर मार्गदर्शन दिया। उन्होंने कहा–विरोध का अर्थ शत्रुता नही है। प्रत्येक विरोध के बीच में एक अविरोध छिपा हुआ है। केवल विरोध ही नही है। विरोध और अविरोध–दोनो के समन्वय का नाम है अनेकान्त।

साधना : मध्यम मार्ग

हमें यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है कि आचार के पक्ष मे वुद्ध ने दोनो अतिवादो का विरोध किया। न कोरा ज्ञानवाद और न कोरा तपवाद। न केवल कष्ट सहना और न वहुत आराम या सुविधावाद को

स्वीकार करना। दोनों के बीच का मार्ग बताया—मध्यम मार्ग। किन्तु साथ-साथ यह कहने में भी संकोच नहीं होता—दर्शन के क्षेत्र में मध्यम प्रतिपदा की बात नहीं रही। वहां ऐकान्तिक अनित्यवाद को स्वीकार किया। बुद्ध ने आचार के क्षेत्र में बहुत काम किया किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का अवदान बहुत बडा नहीं माना जा सकता। बुद्ध के बाद उत्तरवर्त्ती आचार्यो ने दर्शन के क्षेत्र मे बहुत बड़ा काम किया है। धर्मकीर्ति, नागार्जुन, वसुबधु आदि बौद्ध धर्म के महान् आचार्यो ने दर्शन और तर्क के क्षेत्र में कुछ कीर्तिमान स्थापित किए हैं किन्तु बुद्ध के समय मे दर्शन का बहुत विकास नहीं हुआ।

बुद्ध की देन

बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का बहुत विकास किया। आचार के क्षेत्र में चार आर्यसत्य, चार ब्रह्म विहार—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये वास्तव मे बुद्ध की ही देन है। पंचशील का विकास बुद्ध ने किया है। जैन धर्म के पचव्रत और बुद्ध के पंचशील—दोनो मे बहुत बडा अंतर है। जहा महावीर ने पांच व्रतो मे अपरिग्रह को स्थान दिया वहा बुद्ध ने अपरिग्रह का स्पर्श ही नही किया। बुद्ध ने मद्यपान का निषेध किया। अहिसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य को व्रत के रूप में स्वीकार किया किन्तु अपरिग्रह को व्रत माना ही नही।

महावीर का अपरिग्रहवाद

हवाई विश्व विद्यालय मे एक सगोष्ठी का आयोजन था। उसमे विश्व भर के सैकडो बौद्ध भिक्षु एकत्रित थे। उस सगोष्ठी मे आचार्यश्री के प्रतिनिधि भी विशेष रूप से आमंत्रित थे। सगोष्ठी के मध्य एक बौद्ध भिक्षु ने प्रश्न रखा—बुद्ध ने अपरिग्रह के विषय मे क्या लिखा है? बौद्ध विद्वानों ने कहा—इस विषय मे हमे कोई जानकारी नही है। एक बौद्ध भिक्षु वोले—सौभाग्य से हमारे बीच जैनो का एक प्रतिनिधि मडल उपस्थित है। उनसे यह पूछा जाए—महावीर ने अपरिग्रह के वारे मे क्या कहा है? तेरापथ प्रवक्ता श्री मोतीलाल एच राका ने दस मिनट तक अपरिग्रहवाद का विभिन्न पहलुओ से विश्लेषण प्रस्तुत किया। जैन धर्म मे अपरिग्रहवाद की जो विशद विवेचना है, उमे सुन बौद्ध विद्वान् अत्यन्त

प्रभावित हुए। जापान के समागत बौद्ध विद्वानों ने हमारे प्रतिनिधियों को जापान यात्रा का निमंत्रण दिया और इस विषय पर एक विस्तृत व्याख्यान देने का अनुरोध किया। केवल निमंत्रण ही नहीं दिया, प्रतिनिधि मंडल की यात्रा की सारी व्यवस्थाएं जुटा दीं।

आचार का क्षेत्र : नई दिशा का उद्घाटन

भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद का सूत्र प्रस्तुत कर आचार के क्षेत्र मे एक नई दिशा का उद्घाटन किया। वैचारिक इतिहास की दृष्टि से यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है—अपरिग्रह के बारे मे जितना विश्लेषण जैन आगमों में मिलता है शायद भारतीय साहित्य में कही भी प्राप्त नहीं है। ऐसा लगता है—अहिंसा और अपरिग्रह—इन दोनो पर जैनों का एकछत्र साम्राज्य है। इसका अर्थ यह नही है कि दूसरे धर्मो ने इन पर विचार नहीं किया। दूसरे धर्मो ने इन पर विचार किया है किन्तु बहुत विवाद नहीं है। महावीर ने जितने विस्तार से इस विषय का प्रतिपादन किया है जितनी गहराई में जाकर इस विषय को प्रस्तुत किया है, उस गहराई तक पहुंचने वाले व्यक्ति विरल हैं। यदि अपरिग्रहवाद का सम्यक् मूल्यांकन किया जाए तो वर्तमान की अनेक समस्याओं को समाधान मिल जाए। वर्तमान समस्याओ के संदर्भ में महावीर के ये तीन सिद्धान्त—अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत बहुत प्रासगिक बन गए हैं। इनकी प्रासगिकता के साथ जैन धर्म भी प्रासंगिक बन जाता है।

काका कालेलकर की वेदना

आचार्यवर का हिसार मे चातुर्मास था। अचानक एक दिन काका कालेलकर दिल्ली से हिसार आए। अचार्यवर ने कहा—काका साहब! इस गर्मी में आप अचानक कैसे आए? काका कालेलकर बोले—आचार्यजी! क्या करूं? मन मे बडी पीडा है, वेदना है, मुझसे रहा नही गया, इसलिए मैं अपने मन की पीडा आपको सुनाने आया हू। आचार्य श्री ने सोचा—काका साहब इतने प्रतिष्ठित आदमी हैं; भारत सरकार भी इनका सम्मान करती है। इनके मन में क्या पीडा हो सकती है? आचार्यश्री ने कहा—काका साहब! आपके मन में क्या पीडा है? काका कालेलकर बोले— आचार्यजी! आज जैनो को हो क्या गया है? जिस धर्म के पास अनेकान्त जैसा सिद्धान्त

है और जिस सिद्धान्त की आज सारे संसार को जरूरत है, उस सिद्धान्त को मानने वाले सोए हुए हैं। वे धर्म, जिनमें कोई क्षमता नहीं है, अपने धर्म को विश्व-धर्म बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं और जिस धर्म में विश्व-धर्म बनने की क्षमता है, उस धर्म के लोग अकर्मण्य बने हुए हैं, कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। जिस धर्म के पास अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे सिद्धान्त हैं, उस धर्म को फैलाने का कोई प्रयत्न नहीं है—इस बात से मुझे इतनी वेदना एवं पीड़ा हुई कि रहा नहीं गया और आपको अपनी यह व्यथा सुनाने आ गया।

युगीन परिप्रेक्ष्य में

वस्तुत· जैन धर्म ने ऐसे सिद्धान्त दिए हैं, जो आज के युग के लिए जरूरी है। इस परमाणु और वैज्ञानिक युग में, शस्त्रीकरण, हिसा और आतंक के युग मे, आर्थिक विषमता और वैचारिक खीचातानी के युग मे, इन सिद्धान्तो का मूल्य बहुत बढ गया है। हम जैन धर्म को समझे, साथ-साथ बौद्ध धर्म को समझें। दोनो भाई-भाई हैं और एक ही परम्परा की दो धाराएं हैं। दोनों दर्शनों के अध्ययन के बाद कोई ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करें, जिसके द्वारा वर्तमान समस्याओं को समाधान की दिशा मिल सके। केवल तुलनात्मक अध्ययन ही न करे, अध्ययन के पश्चात् वर्तमान समस्याओ के समाधान मे योग देने की स्थिति मे आएं तो तुलनात्मक अध्ययन बहुत उपयोगी होगा, वर्तमान युग मे एक नए सिद्धान्त और नई स्थापना का अवसर मिल सकेगा।

देगी। जैन धर्म कहता है – बुराइयों को छोड़ो, अच्छाइयों को स्वीकार करो। वैदिक धर्म भी यही कहता है। यदि कोई धर्म यह कहता–अच्छाइयों को छोडो, बुराइयों को अपनाओ तो भेद की बात समझ में आती। बौद्ध धर्म हो, ईसाई या इस्लाम धर्म हो – सब यही कहते हैं – अच्छे आदमी बनो, अच्छाइयों को आत्मसात् करो, सबके प्रति प्रेम करो, किसी को मत सताओ। जहां ये सब सामान्य स्वर मिलते हैं वहां सामान्य में खोए हुए असामान्य को खोजना बड़ा कठिन हो जाता है।

समान है आचार-संहिता

यह स्पष्ट है – जहां तक धर्म का प्रश्न है, आचार-संहिता का प्रश्न है वहां समान तत्त्व ज्यादा हैं। प्रायः सभी धर्मो ने अहिंसा की बात कही, सत्य पर बल दिया। मानवीय मूल्य, नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य– इन सबके विकास की बात प्रत्येक धर्म ने कही है। अन्तर हो सकता है मात्रा या सीमा का। किसी की सीमा छोटी है और किसी की व्यापक है। किसी धर्म ने कहा – बुराई मत करो। एक सीमा बन गई। किसी ने इस सीमा को विस्तार दे दिया – बुराई करो मत, कराओ मत और उसका अनुमोदन भी मत करो। मनुस्मृति ने सीमा को और विस्तार दे दिया – हिंसा करो मत, कराओ मत, उसका अनुमोदन भी मत करो। इतना ही नहीं, हिंसा से बनी हुई चीज को खाओ भी मत। हिंसा से बनी चीज खाना भी हिंसा है। यह सीमा का विस्तार है।

अपरिग्रह का संदर्भ

अपरिग्रह के सदर्भ में कहा गया – परिग्रह करो मत, परिग्रह रखो मत, रखाओ मत। उसका अनुमोदन भी मत करो। एक गृहस्थ के लिए कहा गया – ज्यादा संग्रह मत करो। प्रश्न हुआ – संग्रह कितना करें? भागवतकार ने लिखा – जितना एक दिन के लिए जरूरी है, उतना सग्रह करो। शायद यह बात किसी को अच्छी नही लगेगी। आदमी सोचता है – सात पीढी तक काम आए, इतना सग्रह कर लूं। यह सामान्य भारतीय व्यक्ति की चिन्ता होती है। इतना धन कमाऊं, जिससे सात पीढी सुख से जी सके। एक ओर सात पीढी की चिन्ता है, दूसरी

ओर भागवत का कथन है – जितने से पेट भरे, उतने पर तुम्हारा अधिकार है। इससे अधिक का जो संग्रह करता है, वह चोर है। उसे दण्ड देना चाहिए।

यावद् भ्रियेत जठरं, तावद् युक्तं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति।।

आधारभूत व्रत

परिग्रह के संदर्भ में यह एक सीमाकरण है। यदि यह सीमा की बात हो तो अमीर-गरीब की भेद-रेखा ही न रहे, समाजवाद-साम्यवाद की आवश्यकता ही न रहे। प्रत्येक धर्म ने अहिंसा के बारे में सोचा है, अपरिग्रह के बारे में सोचा है, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के बारे में सोचा है। भारतीय धर्मों की यह एक सामान्य आचार-संहिता बन गई। पांच व्रत या महाव्रत – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये सामान्य व्रत रहे हैं। महात्मा गांधी ने ग्यारह व्रत बना दिए। किसी ने नौ व्रत का विधान किया। किन्तु ये पांच व्रत आधारभूत व्रत रहे हैं। इस सारे परिप्रेक्ष्य में भेद की बात अस्वाभाविक-सी लगती है। आरोपण जैसा लगता है भेद।

आरोपण भेद का

एक भारी भरकम और मोटा-ताजा आदमी हाथी पर चढ़कर जा रहा था। काफी लोग इकट्ठे हो गए। चारों तरफ हंसी के फव्वारे छूटने लगे। हाथी पर बैठा आदमी बोला – भाई ! क्या बात है? आप हंस क्यों रहे हैं? क्या आपने कभी हाथी को देखा नही? लोग बोले – हमने हाथी तो देखा है, पर हाथी पर चढ़ा हुआ हाथी कभी नहीं देखा।

भेद का आरोपण करना हाथी पर हाथी चढ़ाने जैसा है। धर्म एक हाथी है। भेद का आरोपण करना उस पर एक और हाथी चढाना है।

धर्म अनेक क्यों?

हम आरोपण की भाषा में नही, यथार्थ की भाषा में सोचें। जहां मानवीय मूल्यों का प्रश्न है, वहां भेद को खोजना बहुत कठिन काम है। प्रश्न यह है – अगर भेद नही है तो जैन धर्म अलग क्यो है? वैदिक धर्म

अलग क्यों है? बौद्ध धर्म अलग क्यों है? अमुक धर्म अमुक धर्म से अलग क्यों है? इस प्रश्न का समाधान अभेद की नहीं, भेद की मीमांसा से निकलता है। अभेद को समझना जितना आवश्यक है उतना ही भेद को समझना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से, सतही तौर पर सब धर्म एक जैसे दिखाई देते हैं। सूक्ष्म मनीषा के द्वारा, एक वैचारिक मनीषा के द्वारा ही भेद को पकड़ा जा सकता है।

प्रमाण शास्त्र है या पुरुष?

भेद की दिशा में जाएं तो सबसे पहले नाम पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। एक का नाम है वैदिक धर्म और एक का नाम है जैन धर्म। नाम में ही अंतर है। इसका तात्पर्य है – एक वह धर्म है, जो ग्रंथ को प्रमाण मानकर चलता है। एक वह धर्म है, जो पुरुष को प्रमाण मानकर चलता है। वेद ग्रंथों को प्रमाण मानकर चलने वाला धर्म है वैदिक धर्म। वहां कोई व्यक्ति प्रमाण नहीं हैं। वेद का कर्त्ता पुरुष नहीं है। इसका अर्थ है– वेद ईश्वर की वाणी है, ईश्वर का वचन है। वैदिक धर्म का अर्थ है– ईश्वरीय सत्ता या वेद को प्रमाण मानकर चलने वाला धर्म।

जैन धर्म 'जिन' को प्रमाण मानकर चलता है। 'जिन' कोई ईश्वरीय सत्ता नहीं है, कोई ग्रंथ नहीं है। जैन धर्म में ईश्वर का प्रामाण्य नहीं है, ग्रंथ का प्रामाण्य नहीं है। प्रामाण्य है पुरुष का। आप्त पुरुष जिन हैं। जो आप्त पुरुष है, वह प्रमाण है। जैन धर्म और वैदिक धर्म की मूल प्रकृति में पहला अन्तर है प्रमाण का। जैन धर्म के अनुसार प्रमाण शास्त्र नही है, प्रमाण है पुरुष। वैदिक धर्म के अनुसार पुरुष प्रमाण नहीं है, प्रमाण है वेद।

वीतराग कौन?

भेद का दूसरा बिन्दु है वीतरागता। जैन धर्म मनुष्य को वीतराग मानता है। वैदिक धर्म मनुष्य को वीतराग नहीं मानता। वैदिक धर्म का सबसे निकट का प्रतिनिधि ग्रंथ है मीमांसा। वास्तव में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड को लें तो वेदों के निकट संबंध वाला ग्रंथ है पूर्व मीमांसा। उपनिषद् का सारभूत दर्शन माने तो उत्तर मीमांसा है वेद का प्रतिनिधि ग्रंथ। उसे धर्म कहने की अपेक्षा दर्शन कहना ज्यादा संगत है। न्याय

एक दर्शन है, वैशेषिक एक दर्शन है। इन्हें धर्म कहने में कुछ सोचना पड़ता है। सांख्य दर्शन भी है और धर्म भी है। सांख्य का साधना पक्ष बड़ा प्रबल है पर उसे वैदिक मानना बहुत कठिन है। वह बिलकुल अवैदिक दर्शन है।

मीमांसा का अभिमत

वेद के दो मुख्य ग्रंथ हैं— पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। मीमांसा का अभिमत है— मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता। जो शरीरधारी है, जिसमें वात, पित्त और कफ है, वह वीतराग कैसे बनेगा? वायु का दौर आएगा, व्यक्ति उछलने लग जाएगा, उसका सिर चकराने लगेगा। पित्त का प्रकोप होगा तो व्यक्ति गुस्से मे बकने लग जाएगा। कफ प्रबल होगा तो लोभ और लालच तीव्र बन जाएगा। लोभ के कारण आदमी क्या-क्या अनर्थ नहीं करता। वात, पित्त और कफ का पुतला वीतराग नहीं हो सकता। यह मौलिक अन्तर है वीतरागता की स्वीकृति और अस्वीकृति का। वैदिक धर्म में वीतराग होता है ईश्वर और जैन धर्म में वीतराग होता है मनुष्य।

संदर्भ : सर्वज्ञता

भेद का तीसरा बिन्दु है सर्वज्ञता। जैन दर्शन कहता है— मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। मीमांसा का मत है— मनुष्य सर्वज्ञ नही हो सकता। ईश्वर या ब्रह्म सर्वज्ञ हो सकता है, मनुष्य नही। वीतरागता और सर्वज्ञता का बहुत निकट का संबंध है। जो वीतराग होगा, वह सर्वज्ञ हो जाएगा। सर्वज्ञ के लिए वीतराग होना अनिवार्य है। वीतराग हुए बिना कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं बन सकता। आचार्य उमास्वाति ने लिखा— कैवल्य की उपलब्धि के लिए मोह का क्षय होनां जरूरी है। ईश्वर सर्वज्ञ होता है, यह बात अनेक दर्शनों ने स्वीकार की है। जैन दर्शन का सिद्धान्त है— मनुष्य वीतराग भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी हो सकता है। शायद संपूर्ण भारतीय चिन्तन और दर्शन मे इस स्थापना को स्वीकृत करने वाला अकेला दर्शन है — जैन दर्शन।

संदर्भ : आत्मवाद

भेद का चौथा बिन्दु है— ईश्वरवाद या आत्मवाद। वैदिक दर्शन

प्रधानतः ब्रह्म या ईश्वरवादी दर्शन है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म की सत्ता को वास्तविक माना और संसार को माया माना। उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक – दो दृष्टियों से विचार किया। जैन दर्शन ने निश्चय और व्यवहार– इन दो नयों का अवलंबन लिया। शंकराचार्य ने बताया– मानवीय दृष्टि से या व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो प्रकृति, जगत्, ईश्वर– ये सब सत्य हैं। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करें, ब्रह्म की दृष्टि से विचार करें तो ब्रह्म सत्य है, जगत्, प्रकृति– इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

सिद्धान्त का दुरुपयोग

यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध हैं– 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। इस सिद्धान्त का व्यवहार में लोगों ने दुरुपयोग भी किया है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कुछ रुपये उधार लिए और इस लिखित अनुबंध के साथ लिए – दो माह बाद ब्याज सहित रुपए लौटा दूंगा। समय बीत जाने पर भी उसने रुपए नहीं लौटाए। रुपया न आने पर उस व्यक्ति ने ब्याज सहित रुपए मांगे। उसने कहा– मैंने तुम्हें जो रुपए दिए थे, उसे चुकाने की अवधि आ गई है।

कब दिया था?

तुम्हारे हाथ से लिखा हुआ साक्ष्य मौजूद है।

मैं नहीं दूंगा।

तुम सचाई को झुठला रहे हो।

तुम नहीं जानते– देने वाला झूठा है, लेने वाला भी झूठा है और लिखने वाला भी झूठा है। ब्रह्म सत्य है और सब झूठ है। तुम क्यों मांगने आए हो?

सिद्धान्त के दुरुपयोग का यह एक निदर्शन है।

परिपूर्णता का केन्द्र

एक दृष्टिकोण रहा– जितना पर्यायवाद है, वह मिथ्या है। वह शाश्वत नही है, स्थाई नहीं है। केवल ब्रह्म सत्य है, इसका अर्थ है– परा और अपरा – दोनों विद्याओं की स्वीकृति। अपराविद्या है तो साथ मे परा विद्या भी है। एक आदमी परा विद्या की साधना करेगा, धर्म का

आचरण करेगा पर उसका केन्द्र आत्मा नहीं रहेगी। उसका केन्द्र होगा ब्रह्म या ईश्वर। आध्यात्मिक परिपूर्णता का जो केन्द्र है, वह आत्मा नहीं है, कोई दूसरा है– ब्रह्म या ईश्वर है।

मुक्त आत्मा : विलय या स्वतंत्र अस्तित्व

अध्यात्म की परिपूर्णता का केन्द्र कोई दूसरा नहीं है, अपनी आत्मा है। यह तथ्य जैन दर्शन ने स्वीकार किया, दूसरे दर्शनों ने नहीं। यह एक नई स्थापना है। मोक्ष होने के बाद भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व रहता है। सारे दर्शन मोक्ष होने के बाद आत्मा को विलीन कर देते हैं। जैसे सब नदियां बहती हैं और अंत में समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही मुक्त होने के बाद आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। जैन दर्शन का मोक्ष का सिद्धान्त पूर्ण स्वतंत्रता का सिद्धान्त है– मुक्त होने के बाद, सब कर्मो का विलय कर देने के बाद भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। आत्मा के विलीन होने के संदर्भ में यह तर्क भी दिया जाता है– हिन्दुस्तान आजाद बना तब पचासों राजा थे। बीकानेर, जोधपुर, हैदराबाद आदि नगरो के अलग-अलग राजा थे। स्वतंत्र भारत में उन सबका विलय हो गया। आज कोई राजा नही रहा, सब विलीन हो गए। वैसे ही मुक्त होने के बाद सारी आत्माएं परमात्मा मे विलीन हो जाती हैं।

चार पहलू

जैन दर्शन विलय की बात को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, सबका अपना अस्तित्व होता है, मुक्त होने के बाद भी प्रत्येक आत्मा अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती है। वह किसी का अंश नहीं है। वैदिक धर्म के अनुसार वह एक अंश है और सब उसके अंशभूत हैं। जैन दर्शन कहता है– कोई किसी का अशी नहीं है और कोई किसी का अंश नही है किन्तु सब स्वतंत्र हैं, प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। यह है स्वतंत्रता का सिद्धान्त।

पुरुष का प्रामाण्य, वीतरागता, सर्वज्ञता और आत्मा की
मे स्वतंत्रता– ये चार ऐसे पहलू हैं, जो जैन दर्शन और
भिन्नता को स्पष्ट करते हैं। यदि हम मूल

स्थापनाओं के भेद को छोड़कर केवल सतही आधार पर भेद की विवक्षा करें तो शायद दोनों दर्शनों के साथ न्याय नहीं होगा।

जैन दर्शन का आशावाद

जैन दर्शन की ये जो चार स्थापनाएं हैं, उनका प्रतिफलन है आशावाद। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर यह आशावाद जागता है–

मैं प्रमाण बन सकता हूं। मैं स्वयं प्रमाण हूं। मुझे किसी दूसरे के प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

मैं वीतराग बन सकता हूं। वीतरागता की उपलब्धि मेरे हाथ में है।

मैं सर्वज्ञ बन सकता हूं। विश्व की प्रत्येक हलचल को मैं साक्षात् जान सकता हूं, देख सकता हूं।

मैं मुक्त होने के बाद अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रख सकता हूं।

ये चार ऐसे आशावादी दृष्टिकोण जैन दर्शन ने दिए हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के मन में पुरुषार्थ और पराक्रम की भावना जागती है। व्यक्ति के सामने यह लक्ष्य बिन्दु बना रहता है– मुझे यह होना है, वीतराग, केवली या सर्वज्ञ बनना है। यह लक्ष्य-केन्द्रित आशा उसे सतत पुरुषार्थ की प्रेरणा देती है। इस महान् पुरुषार्थवादी और आशावादी दृष्टिकोण के साथ हम दोनो धर्मो की तुलना करें, दोनों के समान स्तर और मौलिक स्थापनाओं के अंतर को समझने का प्रयत्न करे तो हम दोनों महान् धर्मो के साथ न्याय कर पाएंगे।

जैन धर्म और इस्लाम धर्म

हमारी दुनियां में कुछ धर्म बहुत बड़े माने जाते हैं। ईसाई, इस्लाम और **बौद्ध धर्म** – ये तीनों संख्या की दृष्टि से विशाल हैं, पूरी दुनियां में फैले हुए हैं। एक बड़ा होता है गुणात्मक दृष्टि से और एक बड़ा होता है संख्या की दृष्टि से। संख्या की दृष्टि से बडे और छोटे का निर्णय करना संभव है लेकिन गुणात्मकता की दृष्टि से कौन बडा है और कौन छोटा, इसका निर्णय करने के लिए बहुत गंभीर अध्ययन अपेक्षित होता है। संख्या में आंकड़ें बोलते हैं, भीतर की बात नही बोलती।

इस्लाम धर्म संख्या की दृष्टि से काफी बड़ा है, बहुत फैला हुआ है और फैलता ही जा रहा है। जैन धर्म वर्तमान में संख्या की दृष्टि से काफी छोटा है। जैन धर्म कंभी बहुत व्यापक था लेकिन वह आज़ बहुत सीमित दायरे में बंधा हुआ है।

धर्म के दो पहलू

धर्म के दो पहलू हैं – आध्यात्मिक धर्म और धर्म का शासन – संगठन या समाज। हम दोनो दृष्टियों से देखे। यह मानने मे कोई कठिनाई नहीं है कि इस्लाम धर्म ने दोनों दृष्टियो से समृद्धि जोडी है। जैन धर्म आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत समृद्ध है। उसका जो व्यवहार पक्ष है, संगठन या समाज का पक्ष है, वह बहुत कमजोर रहा है। जिस किसी व्यक्ति ने इस्लाम धर्म को स्वीकारा, मुसलमान वना, वह भाईचारे की श्रृंखला से जुड़ गया। जैन धर्म मे यह तत्त्व तो रहा पर इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

चैत्यवंदना में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया है–

तम्हा सव्वपयत्तेण जो नमुक्कारधारओ।
सावगो सो वि दट्ठव्वो जहा परमवंधवो।।

जिसने नमस्कार महामंत्र को धारण कर लिया, वह श्रावक बन गया। वह तुम्हारा परम बांधव है।

सामाजिकता : भाईचारे का सिद्धान्त

यह भाईचारे का सिद्धान्त था पर जैन लोग इसे अपना नहीं पाए। आज कोई हरिजन नमस्कार मंत्र को धारण करता है तो उसे भाई नहीं माना जाता। आज कोई दूसरी जाति का व्यक्ति जैन बनता है तो उसे भाई नहीं माना जाता। दादा जिनचंद्र सूरी ने जिस परमबंधुता वाली बात पर बल दिया, उसे समाज में मान्यता नहीं मिली। यदि वह बात मान्य होती तो आज जैन धर्म सामाजिक दृष्टि से, संगठन की दृष्टि से और दर्शनाचार की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली होता। दर्शनाचार को जो महत्त्व मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल पाया। इसका परिणाम है – जैन धर्म संख्या की दृष्टि से आज भी शक्तिशाली नहीं है। कोरा आध्यात्मिक धर्म उन लोगों के लिए उपयोगी होता है जो तत्व की गहरी पैठ रखते हैं, तत्त्व की गहराई में जाना चाहते हैं। जहां सामाजिक जीवन में भाईचारे की भावना नहीं होती, साधर्मिकता नहीं होती, यह सात्विक गर्व नहीं होता कि यह मेरा साधर्मिक भाई है, हम एक ही धर्म को मानने वाले और एक ही मंत्र का जप करने वाले हैं, वहां समाज शक्तिशाली नही बनता। जहां साधर्मिकता की अनुभूति, भाईचारे की अनुभूति नही होती वहां सामाजिकता का विकास नहीं होता

सामाजिकता की समस्या

इस्लाम धर्म सामाजिकता की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली रहा है और इसका कारण यह भावना है – जो मुसलमान बन गया, वह अपना हो गया। सांभर की भील में जो भी पड़ा, वह नमक बन गया। यह जो अपनाने की वृत्ति है, व्यवहार या सामाजिकता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। राजपूत, जाट आदि जातियों के कितने लोग जैन धर्म के निकट आए पर उन्हे ऐसा कोई शक्तिशाली नेता नही मिला, जो उनको अपनाने के लिए अपना हाथ आगे बढा सके। लोगों को ऐसा प्रतीत होता है – हम जैन धर्म को तात्त्विक दृष्टि से बहुत अच्छा मानते हैं, उसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा भी है लेकिन जो पहले से जैन बने हुए हैं, वे हमें

अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं। यह सामाजिकता की समस्या जटिल स्थिति पैदा कर देती है। आचार्य श्री तुलसी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया, यदि उसे समाज मूल्य देता तो जैन धर्म सामाजिकता की दृष्टि से कमज़ोर नहीं रहता।

संकीर्णता मिटे

लाडनूं का प्रसंग है। आचार्य श्री ने हरिजनों को प्रवचन सुनने का आह्वान किया। अनेक हरिजन प्रवचन सुनने के लिए लालायित बने। समाज के कुछ प्रमुख लोगों को इस बात का पता चला। उन्होंने कहा – यह नहीं हो सकता कि हरिजन आए और हमारे साथ बैठे। हम देखते हैं– वे कैसे आएंगे पंडाल में। हम दरवाजे में खडे रहेंगे, कोई भीतर नहीं आ सकेगा। ये सारी बातें आचार्यश्री के पास पहुंची। आचार्यवर ने कहा– यह हमारा निर्णय है – हरिजन पंडाल में आ सकते हैं, प्रवचन सुन सकते हैं। उन्हें प्रवचन सुनने से रोकने का अर्थ है – हमें यहां रहने से रोकना। आचार्यवर के इस कथन से लोगों का आवेश मंद पडा। हरिजन आए, महाजनों के साथ बैठकर प्रवचन सुना।

हमारा समाज इससे भी कुछ आगे बढा। श्रीडूंगरगढ़ मे विशाल हरिजन सम्मेलन आयोजित किया गया। उसमें लगभग चार हजार हरिजनो ने भाग लिया। सम्मेलन में भाग लेने वाले हरिजनों को भोजन कराया गया। भोजन करने वाले थे हरिजन और भोजन परोसने वाले थे जैन समाज के संपन्न और समाजसेवी लोग। वह एक अनोखा दृश्य था। यदि वह क्रम स्थाई बनता, हरिजनो को अपनाने की मानसिकता का निर्माण होता तो जैन धर्म का महान् तत्त्व दूसरो के लिए सहज ग्राह्य बनता, भाईचारे की भावना व्यापक बन जाती।

समस्या यह है – आज भी यह संकीर्णता मिटी नहीं है। समाज मे वह समर्थ नेतृत्व नही है, जो इस बात को आगे बढ़ा सके। यही कारण है – गुणात्मकता की दृष्टि से महान् होते हुए भी जैन धर्म संख्या की दृष्टि मे बहुत समृद्ध नही बन पा रहा है।

जरूरी है सौहार्द का विकास

हम इस्लाम का समाज-दर्शन देखें। वह बहुत ग्राह्य है। उसमें

पारस्परिकता और सौहार्द को जो मूल्य दिया गया है, उससे प्रत्येक आदमी का मन आकृष्ट हो जाता है। सामान्य आदमी तत्व की गहराई में नहीं जाता। वह प्रभावित होता है पारस्परिकता से। समाज में पारस्परिकता है, सौहार्द का संबंध है तो व्यक्ति सहज ही उस ओर खिंचता चला जाएगा। हम एक गृहस्थ की बात छोड़ दें। एक मुनि को भी सौहार्द नहीं मिलता, वात्सल्य नहीं मिलता, पारस्परिकता नहीं मिलती है तो वह भी सोचता है – मैं कहां फंस गया। मेघकुमार के साथ ऐसा ही हुआ था। सम्राट् श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार महावीर के चरणों में प्रव्रजित हुआ। मुनि जीवन की पहली रात। सोने का स्थान मिला दरवाजे के पास। मध्यरात्रि का समय, कोई मुनि स्वाध्याय के लिए बाहर जा रहा है, कोई ध्यान के लिए बाहर जा रहा है, कोई देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए बाहर जा रहा है। किसी का पैर मेघकुमार से टकरा जाता है, किसी के पैर के प्रहार से मेघकुमार तड़प उठता है। इस स्थिति में नींद का प्रश्न ही नहीं था। उसके लिए वह रात बहुत लम्बी बन गई। तीन प्रहर का समय उसे सौ प्रहर जितना लगने लगा।

त्रियामा शतयामाऽभूत् नानासंकल्पशालिनः।
निस्पृहत्वं मुनीनां तं, प्रतिपलमपीडयत्।।

समाज : परस्परता का संबंध

मेघकुमार ने सोचा – यह कैसा समाज? पहले जब मैं गृहस्थ था तब साधु कितना प्यार करते थे। आज कोई पूछता ही नहीं है। जो आता है, ठोकर लगाकर चला जाता है। यह कैसा व्यवहार है? उसका मन विचलित हो गया। विचलित होने का कारण कोई आत्मा की दुर्बलता नही थी। संतों का रूखा-सूखा व्यवहार उसके स्नेहिल हृदय को विक्षुब्ध बना गया। सूर्योदय होते ही मेघकुमार महावीर के पास पहुंचा। महावीर को वदना कर बोला – भगवन्! यह संभालो आपका दिया हुआ साधुत्व।

समाज में पारस्परिक संबंध का कितना महत्व होता है, संगठन में जुड़ाव का होना कितना महत्वपूर्ण है, हम इस सचाई को समझें। ये तत्त्व समाज या सगठन मे नही होते हैं तो वह संख्या की दृष्टि से विस्तार

नहीं पा सकता। धर्म का जो यह व्यावहारिक पहलू है, वह संगठन या समाज का प्राणतत्त्व होता है। इसकी उपयोगिता का बोध होना वर्तमान युग में अत्यन्त अपेक्षित है।

जैन धर्म : परम तत्त्व

धर्म का मुख्य पहलू आध्यात्मिकता है। जैन धर्म आत्मा के लिए समर्पित धर्म है। जब तक आत्मा या परमात्मा के प्रति गहरा अनुराग नही जगता तब तक काम बनता नहीं है। हमारे सामने एक लक्ष्य है, एक गंतव्य है और वह है आत्मा। उसके प्रति गहरा लगाव जागे बिना आदमी कहीं टिक ही नहीं पाता। जैन धर्म मे आत्मा या आत्मा की शुद्धावस्था—परमात्मा को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया गया है। उसके प्रति – अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते – अस्थि, मज्जा और रग-रग में अनुरक्ति की बात कही गई है। आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पण। जो धार्मिक बना है, उसके लिए केवल आत्मा-परमात्मा के प्रति समर्पण ही श्रेय है। उसका परम आराध्य तत्त्व है आत्मा।

इस्लाम धर्म : परम तत्त्व

इस्लाम का परम तत्त्व है – अल्लाह, खुदा, ईश्वर या परमेश्वर। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण। ईश्वर के लिए, ईश्वर के नाम पर इतना समर्पण, जिसकी कोई सीमा नही है। ईश्वर के प्रति कुरान शरीफ मे जो आयते है, उन्हें पढे तो ऐसा लगेगा – इस्लाम धर्म का आदि बिन्दु या अतिम बिन्दु कोई है तो वह है खुदा-अल्लाह। अल्लाह के सिवा कोई नही। सब कुछ समर्पित है उसके लिए। खुदा को सर्वज्ञ माना गया है। कहा गया – वह सब जानता है, देखता है, न्याय करता है। कुरान कहता है – बीच के कोई भी देवता तुम्हारा भला नही कर सकते। तुम किसी देवता की शरण मे मत जाओ। बहुत मार्मिक भाषा मे कहा गया– तुम उन देवताओ की शरण मे जाते हो, जो एक मक्खी को भी नही बना सकते। क्या कोई ऐसा देवता है, जो एक मक्खी का भी कर दे? तुम उस परमात्मा की शरण लो, ईश्वर की शरण लो, कुछ करने मे समर्थ है।

इस्लाम धर्म का सूत्र है – ईश्वर के प्रति

अर्थ है – ईश्वर के प्रति समर्पण। हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें। जैन धर्म है आत्मा या परमात्मा के प्रति समर्पित और इस्लाम धर्म है खुदा या अल्लाह के प्रति समर्पित। अंतर इतना है – जैन धर्म ईश्वर कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करता और न ही न्याय-अन्याय की बात ईश्वर के साथ जोडता है। जहां सर्वज्ञता का प्रश्न है वहां जैन धर्म भी परमात्मा को सर्वज्ञ मानता है और इस्लाम में भी ईश्वर को सर्वज्ञ माना गया है।

धर्मान्तरण का प्रश्न

एक प्रश्न है धर्मान्तरण का। इस्लाम को विस्तारवादी माना जाता है। यह कहा जाता है – इस्लाम के लोगों ने जबरदस्ती अपने धर्म में दूसरे लोगों को दीक्षित किया। यह बात उत्तरकालीन हो सकती है। कुरान में इसका निषेध है। यह बात कुरान सम्म्मत नहीं है। कुरान कहता है – तुम लोगो में धर्म की सहिष्णुता होनी चाहिए। धर्म के विषय में जोर-जबर्दस्ती का कोई स्थान नहीं है। यह है इस्लाम का सिद्धान्त। जैन धर्म का भी यही सिद्धान्त है। जैन धर्म ने हृदय परिवर्तन को महत्त्व दिया– दूसरों के हृदय को बदलो, दिल को बदलो, मस्तिष्क को बदलो। समझा-बुझाकर धार्मिक बनाओ। जबर्दस्ती किसी से धर्म नहीं कराया जा सकता। यही सिद्धान्त इस्लाम का है – धर्म के मार्ग में जोर-जबर्दस्ती का कोई अवकाश नहीं है।

कुरान का कथन

आचार या चरित्र की दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है – सचाई दो होती ही नहीं है। साधना के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियो का अनुभव दो नहीं होता। जिस व्यक्ति ने मन को एकाग्र किया है, मन को साधा है, कषाय को जीता है, समता का जीवन जिया है, वह किसी भी देश मे, किसी भी काल मे हो, सत्य तक पहुच जाता है। कुरान का एक वाक्य है– 'हे श्रद्धावानो ! ऐसी बात क्यों कहते हो, जो करते नही, ईश्वर के निकट यह बात वहुत निन्द्य है कि वह बात कहो, जो करो नहीं।' कुरान का यह वाक्य कितना मूल्यवान है – तुम कहो कुछ और करो कुछ, इससे ईश्वर प्रसन्न नही होना। कथनी और करनी की समानता पर बल देने वाला यह महत्त्वपूर्ण मूत्र है।

यथाख्यात चारित्र : अविसंवादन योग

जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है – यथाख्यात चारित्र। हमारे आचरण का चरम बिन्दु है – यथाख्यात चारित्र – अविसवादन योग। सत्य क्या है? हम सत्य को बहुत स्थूल रूप मे स्वीकार कर लेते हैं – वाणी से झूठ मत बोलो। यह सत्य की स्थूल व्याख्या है। सत्य केवल वाणी के साथ ही नहीं जुड़ता। यह सत्य का एक पहलू है, उसकी समग्र परिभाषा नहीं है। केवल वाणी का असत्य ही असत्य नहीं होता। काया का भी असत्य होता है, भाव का भी असत्य होता है। एक असत्य है विसवादन योग – कहना कुछ और करना कुछ। यह शायद सबसे बड़ा झूठ है, दुनियां को धोखा देना है। व्यक्ति बहुत बड़ी-बड़ी बातें बनाता है लेकिन चलता है बिलकुल दूसरी दिशा में। यह बहुत बडा धोखा है। जैन धर्म ने आचरण के साथ इस बात को जोडा – कथनी और करनी में संवादिता होनी चाहिए। संवादिता का अंतिम बिन्दु है यथाख्यात चारित्र। जिस बिन्दु पर पहुंचकर कथनी और करनी की सारी दूरियां समाप्त हो जाती हैं, उस बिन्दु की उपलब्धि का नाम है यथाख्यात चारित्र। इस सदर्भ मे इस्लाम धर्म और जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत निकट आ जाता है।

स्वतंत्रता का प्रश्न

अली ने मोहम्मद साहब ने पूछा – हम स्वतंत्र हैं या परतत्र? मोहम्मद साहब ने कहा – खड़े हो जाओ। अली महाशय खडे हो गए। मोहम्मद साहब बोले – एक पैर को सीधा कर दो। अली ने वैसा ही किया। मोहम्मद साहब का दूसरा निर्देश था – अब दूसरे पैर को भी सीधा कर दो। अली ने कहा – मैं दूसरा पैर सीधा कैसे कर मकता हू? मैं गिर जाऊगा। मोहम्मद साहब बोले – तुम एक पैर को सीधा करने मे स्वतत्र हो और दूसरे पैर को सीधा करने मे परतंत्र हो। इसका अर्थ है– तुम स्वतंत्र भी हो, परतंत्र भी हो।

जैन आचार्य के सामने प्रश्न आया – हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं या परतत्र? आचार्य ने कहा – एक आदमी खजूर के पेड के सामने खडा है। उसके मन मे इच्छा जागी, इस पेड़ पर चढ़ जाऊ। वह उस पेड पर चढ

गया। वह चढने में स्वतंत्र है। चढे या न चढे, यह उसकी स्वतंत्रता है किन्तु चढने के बाद नीचे उतरना उसकी परतंत्रता है।

स्वतंत्रता और परतंत्रता सापेक्ष है। एक व्यक्ति खाने मे स्वतंत्र है। ज्यादा खाएगा तो अफारा आ जायेगा। उस परिणाम को भोगने मे वह परतंत्र है। पेट खराब है, पाचनशक्ति अच्छी नहीं है और व्यक्ति ने भारी चीज खा ली। वह उसे खाने मे स्वतत्र है किन्तु उसका परिणाम भोगने में परतंत्र है। आदमी एकातत: न स्वतंत्र है और न परतंत्र।

वर्तमान आचार का प्रश्न

कुरान को पढते समय ऐसा नही लगता — आज जैसा चल रहा है, इस्लाम धर्म वैसा ही है। कुरान मे वहुत अच्छी बाते हैं — नीति और आचार का उपदेश है, न्याय और हृदय परिवर्तन का सदेश है— 'किसी के साथ अन्याय मत करो। किसी के साथ जुल्म मत करो। किसी को सताओ मत। सबके साथ मैत्री करो। प्रेम करो। तुम्हे ईश्वर के पास जाना है, वहां न्याय होगा। शरीर पर ममत्व मत करो। यह शरीर छूट जाएगा, नष्ट हो जाएगा। तुम नष्ट नही होने वाले हो।' इन सब बातो को सामने रखकर देखे तो ऐसा लगता है — वेदान्त, जैन दर्शन, बौद्ध, कुरान, सांख्य आदि आदि मे बहुत निकटता है। इसी आधार पर पश्चिम के लोगो ने कुरान और वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन किया है। कुरान और गीता मे बहुत समता है इसलिए दादा पेशावा ने गीता का फारसी मे अनुवाद कराया। जहां वैदिक दर्शन मे स्वप्न, प्रसुप्ति आदि चार अवस्थाएं मानी गई है वहा इस्लाम मे भी चार अवस्थाए मानी गई हैं। सांख्य दर्शन का साधना पक्ष है पातंजल योगदर्शन, इस्लाम का साधना दर्शन है सूफी दर्शन। सूफी संतों ने अध्यात्म की दिशा में काफी विकास किया और वह विश्व में काफी प्रभावशाली बना। मूल बात यही है — वर्तमान आचार और कुरान की बातों मे काफी अन्तर है। यह मान लेना चाहिए — जैन धर्म के सिद्धान्त और जैन श्रावक के आचार में काफी निकटता है। कहा गया — एक जैन श्रावक के लिए झूठा तोल-माप सर्वथा निषिद्ध है। वह मिलावट नहीं कर सकता। जो झूठा तोल-माप करता है, मिलावट करता है, वह पशु-योनि में जाता है। यह जैन श्रावक

की सामान्य आचार-संहिता है और इसका पालन एक जैन श्रावक को करना होता है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ

जहां मूल सिद्धान्त का प्रश्न है वहां उत्तराध्ययन और कुरान को आमने-सामने रखकर देखेंगे तो ऐसा लगेगा – अनुभव दो नहीं होता, अच्छाई दो नहीं होती। अन्तर हो सकता है सूक्ष्मता तक जाने मे, गहराई तक पहुचने में। जहां आचार और व्यवहार के स्थूल सिद्धान्त का प्रश्न है वहां अनेक धर्मो में समानता के व्यापक तत्त्व खोजे जा सकते हैं। हमे इस संदर्भ में प्रयत्न भी करना चाहिए। जैन दर्शन का बड़ा उदार दृष्टिकोण रहा है। जैनधर्म में बहुश्रुत वह होता है, जो अपने सिद्धान्तो को भी जानता है दूसरों के सिद्धान्तो को भी जानता है। आचार्य की यह एक विशेषता है कि वह स्वसमय और परसमय – दोनों का ज्ञाता होता है। दूसरे धर्मो को जानने का एक लाभ यह होता है कि दृष्टि की संकीर्णता मिट जाती है। अन्यथा आदमी कूपमण्डूक बना रहता है। वह सोचता है – सारी अच्छाइयां यहीं हैं। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है – अच्छाइयो का क्षेत्र व्यापक है। सत्य विराट् है। वह सब जगह प्राप्त होता है।

सत्य की समझ : प्रशस्त पथ

हम दूसरे धर्मो को जाने लेकिन केवल ऊपरी तौर पर नहीं। सब धर्मो के बारे मे मौलिक जानकारी करनी चाहिए। मूल सिद्धान्त क्या है और उसकी तुलना कैसे हो सकती है? इसका माध्यम बन सकता है नयवाद। नयवाद इतना व्यापक है कि उसमे आग्रह का अवकाश ही नही है। हमारी दृष्टि मे प्रत्येक धर्म एक नय है। उस नय को समझें। एक व्यापक दृष्टिकोण समझ में आएगा, सचाई के निकट पहुंचने मे हमे बहुत सुविधा होगी। तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है – सत्य के अनेक मार्गो का व्यापक अवबोध। यह अवबोध सत्य की सही समझ का प्रशस्त पथ है।

जैन धर्म और ईसाई धर्म

दुनिया में जितने विचार हैं, वे सब सापेक्ष हैं। किसी भी विचार को असत्य कहने से पहले पांच बार नहीं, पचास बार सोचना चाहिए। हम जिसे असत्य मान रहे हैं या कह रहे हैं क्या वह सत्य नहीं है? वह सत्य भी हो सकता है। वह विचार भी एक नय है, एक दृष्टिकोण है और एक सचाई है। हम निरपेक्ष भाव से उसका तिरस्कार करें, खण्डन करें तो शायद सत्य के प्रति न्याय नहीं होगा

अवाच्य है अखण्ड सत्य

सत्य की मर्यादा है—सब दृष्टिकोणों का समुच्चय करें, समाहार और समन्वय करे फिर अखण्ड सत्य की बात करें। हमारी वाणी में शक्ति नहीं है कि वह अखण्ड सत्य का प्रतिपादन कर सके। आज तक कोई भी पुरुष ऐसा पैदा नहीं हुआ, जिसने अखण्ड सत्य का प्रतिपादन किया हो। चाहे वह बड़े से बडा अवतार हो, ईसा, बुद्ध, महावीर, मौहम्मद साहब, राम या कृष्ण हो। कोई भी अखण्ड सत्य को नहीं बता सका। हमारे पास वाणी की शक्ति सीमित है और उनके पास भी वाणी की शक्ति सीमित थी। ज्ञान असीम हो सकता है पर वाणी किसी की असीम नही हो सकती। प्रतिपादन की क्षमता भी असीम नही है, जीवन भी किसी का असीम नही है। अनंत सत्य को एक छोटे से जीवन मे कैसे बताया जा सकता है? एक व्यक्ति चाहे पचास वर्ष का है या सौ वर्ष का अथवा इससे भी अधिक। इतनी सीमित आयु मे वह अनंत सत्य को कैसे बता सकता है? एक व्यक्ति प्रतिदिन चौबीस घंटा बोले और सैकडों वर्षो तक लगातार बोलता चला जाए तो भी वह सत्य का एक बिन्दु जितना हिस्सा ही अभिव्यक्त कर पाएगा। कहना चाहिए—वर्णमाला के एक अक्षर 'अ' का प्रतिपादन भी सैंकड़ों वर्षो मे नही किया जा सकता। एक अ के अनंत पर्याय हैं। केवल एक अकार का प्रतिपादन भी सैकडो वर्षो मे सभव नहीं है तो अनंत सत्य

का प्रतिपादन किसी के लिए भी कैसे संभव है?

नय दृष्टि

यह तथ्य है—आज तक किसी ने सत्य का पूरा प्रतिपादन किया नहीं है और भविष्य में भी सत्य का पूरा प्रतिपादन नहीं किया जा सकेगा। इस स्थिति मे हम एक बात पकड़ कर अकड़ जाएं, खींचातानी करें, यह कैसी समझदारी होगी? भगवान् महावीर ने इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया है—तुम प्रत्येक विचार पर चिन्तन करो और सोचो—यह किस नय की अपेक्षा से सही है। यह मत सोचो कि यह गलत है। गलत कहने से पहले इस बात पर विचार करो—यह किस नय की अपेक्षा से सही हो सकता है। जैन आचार्यो ने इस दृष्टिकोण से अनेक दर्शनों पर विचार किया है। उनके सामने ईसा का दर्शन नहीं रहा, इस्लाम का दर्शन नहीं रहा किन्तु उनके सामने जितने दर्शन थे, उन सब पर उन्होंने नय-दृष्टि से विचार किया। प्रत्येक दर्शन को अपना एक नय माना। सात नय हैं, सात सौ नय भी हो सकते हैं, सात हजार नय भी हो सकते हैं। कोई भी धर्म बाकी नहीं बचेगा। उन सबको मिलाएं तो अखण्ड सत्य सामने आएगा।

लक्ष्य है अखण्ड को जानना

हम खण्ड को जानते हैं किन्तु हमारा लक्ष्य होना चाहिए अखण्ड को जानना। जो व्यक्ति खण्ड में उलझ जाता है, उसका व्यक्तित्व भी खण्डित बन जाता है। यह जो समग्रता का दृष्टिकोण है, अनंत धर्म के संग्रह का दृष्टिकोण है, वह तुलनात्मक अध्ययन का दृष्टिकोण है। स्व-समय के साथ पर-समय की जो बात कही जा रही है, उसका यही आधार है। वास्तव मे पर-समय कोई है ही नहीं। पूछा गया—जितने धर्म और जितने विचार हैं क्या उनको मिथ्या माने? समाधान दिया गया—जो मिथ्या दृष्टिकोण वाला है उसके लिए सम्यक् या मिथ्या—सब कुछ मिथ्या है। जिसका दृष्टिकोण सम्यक् हो गया, उसके लिए सम्यग्श्रुत हो या मिथ्याश्रुत—सब कुछ सम्यक् है। हमारे लिए कोई भी धर्म असत्य नही है और इसी आधार पर तुलनात्मक अध्ययन के क्रम को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबका दृष्टिकोण जाने और समझे, यही तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य है।

ईसा और जैन धर्म

जब ईसा धर्म की यात्रा में थे, तब वे हिन्दुस्तान में भी आए। कश्मीर मे उनका प्रवास रहा। वहां ईसा का बौद्धों से भी काफी संपर्क रहा, जैनों से भी काफी संपर्क रहा और वैदिक लोगों से भी काफी संपर्क रहा। इस तथ्य को बहुत सारे आधारों पर जाना जा सकता है। ईसा के धर्म प्रवर्तन के बाद पहली या दूसरी शताब्दी में ईसाई धर्म का एक बड़ा दल केरल (भारत) आया। त्रिवेन्द्रम, आज जो केरल की राजधानी है, जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। आचार्य श्री की केरल यात्रा के दौरान हमने देखा—अनेक मंदिर ऐसे हैं, जहां भीतर दूसरी प्रतिमाएं हैं और बाहर दूसरी। आज भी बाहरी परिसर में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं, अन्य जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं स्थान-स्थान पर लगी हुई हैं। केरल के अनेक विद्वान् मिले, जिन्होंने इस विषय पर व्यापक छानबीन की है, उनका कहना था—पहले ये मंदिर भगवान् पार्श्वनाथ के थे बाद में परिवर्तित हो गए। जैन धर्म के इस प्रमुख केन्द्र में ईसाइयों का जैन श्रमणों के साथ प्रथम मिलन हुआ; ऐसा माना जाता है। उस समय विचारों और कार्यों का क़ाफी आदान-प्रदान हुआ।

दान चतुष्टयी

ईसाई धर्म में सेवा का बहुत स्थान है, प्रेम का बहुत स्थान है। कभी-कभी यह कल्पना उभरती है—यह सेवा की बात ईसाई धर्म के लोगो ने जैनधर्म से तो नहीं सीखी है? अनेक विद्वानों ने एक प्रश्न उपस्थित किया—दक्षिण में जैन धर्म इतना व्यापक कैसे बना? उसकी व्यापकता का कारण क्या रहा? इस प्रश्न की खोज और मीमांसा के बाद विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे—दक्षिण में जैन धर्म के व्यापक होने का कारण है—दान चतुष्टयी। वहां जैनों ने चार प्रकार के दान प्रवर्तित किए—

१. अन्नदान
२. विद्यादान
३. औषधदान
४. अभयदान

इन चारों दानों को मुख्यता देने से जैन धर्म व्यापक बनता चला गया।

जैन धर्म : व्यापकता का कारण

जो लोग आजीविका कमाने के लिए समर्थ नहीं हैं, उनके लिए आजीविका की व्यवस्था करना, यह है अन्नदान। शिक्षा की व्यवस्था. करना विद्यादान है। यह बहुत व्यापक कार्य जैन लोगों ने किया। विद्वानों ने लिखा है—जब हमने महाराष्ट्र में पढ़ना शुरू किया, तब हमें सबसे पहले पढ़ाया गया—ॐ नमः सिद्धम्। महाराष्ट्र में ही नही, पूरे दक्षिण मे जैन गुरु यह काम अपने हाथ में लिए हुए थे। वे महात्मा बने और आज मथेरन बन गए है। उन लोगों ने विद्या के पूरे काम को संभाला था। तीसरा था औषधदान। औषधि की व्यवस्था करना, चिकित्सा की व्यवस्था करना औषधदान है। चौथा दान था अभयदान। एक दूसरे के प्रति मैत्रीभाव। कोई आतंक नहीं हो, किसी को कोई सताए नहीं। इस दान चतुष्टयी के कारण जैन धर्म जन-धर्म बन गया, लोक-व्यापी बन गया। समाज के साथ एक गहरा तादात्म्य भाव जुड़ गया।

दक्षिण में जैन धर्म

जैन धर्म की दक्षिण में भाषा, साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के विकास मे अग्रणी भूमिका रही है। आचार्य श्री दक्षिण यात्रा मे मद्रास पधारे। आचार्यवर के स्वागत समारोह का आयोजन किया गया। तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अन्नादुरै ने आचार्यवर का स्वागत करते हुए कहा—आचार्य श्री! आपका स्वागत करते हुए मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। मुझे इस बात का आश्चर्य है— आपने अपने घर को इतने वर्षो तक संभाला क्यों नहीं। हमारी तमिल भाषा में जितने भी प्रौढ़ काव्य हैं, वे सब जैन आचार्यो के बनाए हुए हैं। आज भी एम.ए. के कोर्स मे जितने क्लासिकल काव्य और व्याकरण अनिवार्यतः पढाए जाते हैं, वे सब जैन आचार्यो द्वारा निर्मित हैं। जैसे उत्तर भारत में कोई हिन्दी पढने वाला है, वह सूरदास, मीरा, तुलसीदास, कबीर आदि को पढ़े बिना हिन्दी का कोर्स पूरा नहीं कर सकता वैसे ही तमिल और कन्नड़ में जैन आचार्यो के काव्यों और व्याकरणो को पढे बिना कोर्स पूरा नहीं होता।

व्यापकता का रहस्य

हम तुलनात्मक दृष्टि से देखे। जिस दान तु ५८

व्यापक बना, आज उसी मार्ग को ईसाई धर्म अपनाए हुए है। ईसाई जो कार्य कर रहे हैं, सेवा कर रहे हैं, वह यही तो है। वे इन तीनों दानों को अपना मिशन बनाए हुए हैं—शिक्षा की व्यवस्था, चिकित्सा की व्यवस्था और आजीविका की व्यवस्था। जहां ये तीनों व्यवस्थाएं होती हैं वहां भय अपने आप मिट जाता है। कहा जा सकता है—आज जो ईसाई धर्म में चल रहा है, वही काम प्राचीन काल में जैन लोगों ने दक्षिण भारत मे किया था। जैन धर्म की व्यापकता का कारण भी यही रहा और ईसाई धर्म की व्यापकता का कारण भी यही है।

आंकड़ों की भाषा

तत्त्व को जानने वाले लोग बहुत कम होते हैं। ऐसे कितने लोग हैं, जो तत्त्व को गहराई से समझते हैं, तत्त्व को समझकर किसी धर्म को स्वीकार करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या नगण्य ही कही जा सकती है। आकडो की भाषा है—जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या है एक करोड और ईसाई धर्म के अनुयायी हैं एक अरब से भी अधिक। इसका कारण यही हो सकता है—जैन लोगों ने समाज के साथ संपर्क करने वाली बातें भुला दी और कोरा तत्त्वज्ञान को अपना लिया। तत्त्व को समझने वाले लोग कितने होते हैं! कितने लोग तात्त्विक हो सकते हैं! सामान्य आदमी तत्त्व को समझकर किसी धर्म को स्वीकार नहीं करता। सामान्यतः आदमी अपनी श्रद्धा या अच्छी विशेषता के कारण धर्म विशेष के प्रति आकृष्ट होता है। वह सोचता है—क्या मिलेगा इस धर्म से? मुख्य होती है कुछ पाने या मिलने की बात। तत्त्व की बात कुछ और ही होती है।

दार्शनिक सोलन

यूनान का एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है सोलन। यूनान के बादशाह ने एक विशाल महल बनवाया। वह बहुत भव्य और दार्शनीय था। जो भी आता, उसे देखता, प्रशंसा किए बिना नहीं रहता। बादशाह ने सोचा—सब लोग आते हैं, प्रशंसा के गीत गाते हैं, किन्तु जब तक सोलन प्रशंसा नहीं करता, तब तक कुछ भी नहीं है।

उस व्यक्ति का मूल्य होता है, जो बहुत कम बोलता है। सोलन दार्शनिक था। वह प्रशंसा के मामले मे बहत कजूस था। वह सदा तत्त्व

की बात मे खोया रहता। जो व्यक्ति तत्त्व की गहराई में पहुंच जाता है, तत्त्व की ऊंचाई को छू लेता है, उसके सामने प्रशंसा करने की बात बहुत कम हो जाती है। प्रशंसा वही व्यक्ति ज्यादा करता है, जो तत्त्व की गहराई का स्पर्श नही करता।

बादशाह की अभीप्सा

हजारो-हजारों लोग महल की प्रशंसा कर रहे थे, पर बादशाह को संतोष नही हुआ। बादशाह ने सोचा—जिस दिन सोलन आकर प्रशसा करेगा, उस दिन मानूगा—वास्तव मे ही महल सुन्दर और भव्य बना है। एक दिन बादशाह ने सोलन को बुलाया। सोलन बादशाह के सामने प्रस्तुत हो गया। बादशाह स्वय सोलन को महल दिखाने के लिए तैयार हुआ। बादशाह सोलन के साथ पूरे महल में घूम रहा है, प्रत्येक कमरे की ओर सकेत करके बता रहा है—यह प्रासाद का मुख्य कक्ष है, यह डाइनिग हाल है, यह सभा-कक्ष है, यह शयन-कक्ष है। आप देखिए—फर्श कितना वढिया है, शीशे जैसा चमक रहा है। महल की जितनी विशेषताए थीं, वादशाह सोलन को बताता जा रहा था। सोलन ने एक शब्द भी प्रतिक्रिया में नही कहा। बादशाह ने सोचा—मैने कितना श्रम किया; पसीना बहाया फिर भी यह मौन साधे हुए है।

सोलन का जबाब

पूरा महल देखने के बाद बादशाह और सोलन—दोनो बाहर आ गए। वादशाह का मन क्षोभ से भर गया—मेरा इतना अपमान! इतना तिरस्कार! इतने सुन्दर महल के लिए दो शब्द भी नही। बादशाह से रहा नही गया। वह प्रतिक्रिया जानने के लिए व्यग्र था। उसने कहा—महान् दार्शनिक सोलन! आपने मेरा महल देखा?

हां, देख लिया।

कैसा लगा?

जैसा था, वैसा लगा।

इतनी वढिया सामग्री! इतने बढिया कमरे! आपको कैसा लगा? किनना अच्छा लगा?

महाराज! मैंने सारा देख लिया। इसमे प्रशम्मा करने जैसा कुछ भी नही

लगा। जैसा लगा है, वैसा कहूगा तो आपको अच्छा नही लगेगा। इसलिए मेरा मौन रहना ही अच्छा है।

बादशाह यह सुनकर स्तब्ध रह गया।

जहां तत्त्व की बात होती है वहां भव्यतम प्रासाद की प्रशसा नही होती। छोटी-मोटी बात का मूल्य ही क्या होगा? कोई भी धर्म या संप्रदाय तत्त्व के आधार पर व्यापक या आंकडे वाली गणना नही बता सकता। जो संख्या का विस्तार हुआ है या होता है, वह सामाजिक व्यवस्था, सौहार्द, प्रेम और सेवा के आधार पर हुआ है। तत्त्व की गहराई मे जाना बहुत कठिन काम है। सामान्य आदमी तत्त्व की गहरी चर्चा को सुनना ही पसंद नही करता।

ईसा के उपदेश

ईसा के जो उपदेश है, वे एक सामाजिक व्यक्ति के व्यवहार से सीधे जुडे हुए हैं। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ईसा की शिक्षाए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

किसी की हत्या न करना।

व्यभिचार न करना।

चोरी न करना।

झूठी गवाही न देना।

धन के लालच मे न आना। लोभ सब बुराइयो की जड़ है। धन को न साथ लाए है और न साथ ले जाएंगे।

ईसा ने क्षमा धर्म पर भी बहुत बल दिया। पतरस ने पूछा—हे प्रभु! मेरा भाई अपराध करता रहे तो उसे कितनी बार क्षमा करू? क्या सात बार तक क्षमा करूं?

ईसा ने कहा—सात बार ही क्यो? सात बार के सत्तर गुना तक उसे क्षमा कर।

यह क्षमादान अपनत्व पैदा करता है। सामाजिक सौहार्द और विस्तार मे क्षमा, उदारता, प्रेम, परस्परता जैसे गुणो का विकास बहुत उपयोगी होता है। ईसाई धर्म ने इन सबका व्यवहार के स्तर पर समाजीकरण किया है। उसके प्रति आकर्षण का यह प्रमुख कारण है।

अहिंसा और प्रेम का समाजीकरण

निश्चय या शुष्क दर्शन की चर्चा सामान्य व्यक्ति को आकर्षित नहीं करती। वह आकर्षित होता है व्यवहार के आधार पर। ईसाई धर्म मे अहिसा, प्रेम या मैत्री का समाजीकरण है। ईसाई धर्म के व्यक्तियो ने अहिसा को समाज में प्रतिबिम्बित किया है, समाज से जुड़कर जीवन जिया है। समाज के साथ व्यवहार के धरातल पर प्रेम को कैसे जीया जाए, यह सूत्र ईसाई धर्म के सामने रहा है।

अल्बर्ट आईस्टीन एक महान् विचारक व्यक्ति थे। उन्होंने बुद्ध, महावीर तथा भारतीय सतो पर काफी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे अफ्रीका के जगलों मे गए। ऐसे जंगल, जहा भयंकर मच्छर और जानवर होते है। उन जंगलों मे आदमी का रह पाना मुश्किल था। वहां रहने वाले आदिवासी बहुत खूंखार होते थे। वे आदमी को भी खा जाते। आईस्टीन वैसे जगलों मे झोंपड़ी बांधकर रहे। उन खूंखार आदिवासियो के साथ प्रेम-भरा व्यवहार किया। धीरे-धीरे उनको समझाना शुरू किया, सभ्य बनाना शुरू किया। उनकी सेवा मे रहे और तव तक उस कार्य मे अहर्निश जुटे रहे, जब तक वह जाति सभ्य न बन गई। अपनी सेवा से आईस्टीन ने आदिवासी जीवन जीने वाले व्यक्तियों को सभ्य आदमी की तरह रहना सिखा दिया। सेवा के क्षेत्र मे आईस्टीन दुनिया के प्रसिद्ध व्यक्ति बन गए। विश्व के बड़े से बड़े पुरस्कार आईस्टीन को उपलब्ध हुए।

यह है अहिंसा, प्रेम और मैत्री का समाजीकरण।

व्यक्तिगत साधना : सामाजिक संपर्क

हम केवल आदर्श की वात करे, व्यवहार के स्तर पर कुछ भी न करे तो वह बात कुछ समझ मे नही आती। ऐसा लगता है—जैन धर्म के लोग निश्चय नय के पक्ष पर ज्यादा चले गए। जो निश्चय के पक्ष पर जाएंगे, वे आत्म-साधना की बात भले ही कर ले वहां सख्या की बात नहीं होगी। वहां मोक्ष की बात होगी पर समाज को सुधारने की बात नही होगी।

आचार्यवर की केरल यात्रा मे अनेक बार चर्च मे रहने के अवसर आए। उन प्रवासो मे अनेक पादरी और सिस्टर्स से वार्तालाप हुआ। उन्होंने कहा—हमे यह काम तो दिया गया कि सेवा करो किन्तु व्यक्तिगत [illegible]

के लिए कुछ भी नहीं बताया गया। हमारे मन में बड़ा असंतोष रहता है। हम क्या करे? आप हमारे अपने जीवन के लिए कुछ बताएं? पादरी घंटों तक हमारे पास बैठे रहते, ज्ञान की बात पूछते, साधना विषयक जिज्ञासाएं करते, व्यक्तिगत साधना के लिए मार्गदर्शन लेते।

व्यवहार और निश्चय

दोनों प्रश्न हमारे सामने है—व्यक्तिगत साधना का प्रश्न भी और समाज के साथ संपर्क का प्रश्न भी। निष्कर्ष की भाषा यह होगी—ये दोनों नय हैं। एक नय है व्यक्तिगत साधना का और दूसरा नय है अहिंसा के समाजीकरण का। दोनों अलग-अलग रहते हैं तो शायद दोनों में कठिनाई होती है। अगर दोनो का समाहार हो जाए तो समस्या सुलझ जाए। समाज के स्तर पर किस प्रकार समाज के व्यक्तियों का उत्थान हो सकता है? किस प्रकार सामाजिक समस्याओ का समाधान किया जा सकता है? यह है व्यवहार नय। अपना उत्थान कैसे हो, यह है निश्चय नय। यदि दोनो समानांतर रेखा की भाति साथ-साथ चलें तो पूर्णता की सभावना की जा सकती है।

साझेदारी का अनुभव करें

ऐसा लगता है—प्रकृति को पूरी बात मान्य नहीं है। यदि एक ही धर्म सब काम करने लग जाए तो दूसरे क्या करेंगे। कार्य का एक सहज विभाजन हो गया। हम यह कल्पना न करें—जैन धर्म के हिस्से मे निश्चय नय की बात आ गई, आत्म-साधना या मोक्ष का [illegible] और ईसाई धर्म के हिस्से मे समाज सेवा करना, गरीबो का [illegible] आदि कार्य आ गया। हम यह मानें—यह साझेदारी का काम [illegible] समाज वर्तमान में समाज सेवा के अनेक [illegible] में [illegible] है और अपने व्यापक आधार के [illegible] कर रहा है। ईसाई और जैन—दो[illegible] एक भाई को काम मिला है — [illegible] काम मिला है समाज सुधार का

परस्परता का भाव जागे

हम भाईचारे का अनुभव करे,

माने—एक गुरु के दो शिष्य हैं। गुरु ने उन दोनों को दो अलग-अलग क्षेत्रों मे काम करने का दायित्व सौंप दिया है। दोनों शिष्य अपने अपने काम की पूर्ति मे निष्ठा से लगे हुए हैं। गुरु के कार्य मे दोनों की साझेदारी है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है—साझेदारी का अनुभव करना। न हीनता और न उत्कर्ष। न तिरस्कार और न घृणा। किन्तु परस्परता—एक-दूसरे का पूरक होने का भाव। दुनिया के महान् साम्राज्य मे रहने वाले सब लोग अपनी साझेदारी का, अपने पर आए हुए दायित्व का अनुभव करे तो बहुत अच्छा समन्वय सध जाए। न किसी का खण्डन और न किसी का मण्डन! न किसी का तिरस्कार और न किसी को पुरस्कार। सबका अपना अपना काम और अपना अपना योग। इस योग के आधार पर हम साझेदारी की भावना को आगे बढ़ाएं तो तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकेगा।

के लिए कुछ भी नहीं बताया गया। हमारे मन में बड़ा असंतोष रहता है। हम क्या करें? आप हमारे अपने जीवन के लिए कुछ बताएं? पादरी घंटों तक हमारे पास बैठे रहते, ज्ञान की बात पूछते, साधना विषयक जिज्ञासाएं करते, व्यक्तिगत साधना के लिए मार्गदर्शन लेते।

व्यवहार और निश्चय

दोनो प्रश्न हमारे सामने हैं—व्यक्तिगत साधना का प्रश्न भी और समाज के साथ संपर्क का प्रश्न भी। निष्कर्ष की भाषा यह होगी—ये दोनो नय हैं। एक नय है व्यक्तिगत साधना का और दूसरा नय है अहिंसा के समाजीकरण का। दोनो अलग-अलग रहते हैं तो शायद दोनों में कठिनाई होती है। अगर दोनो का समाहार हो जाए तो समस्या सुलझ जाए। समाज के स्तर पर किस प्रकार समाज के व्यक्तियो का उत्थान हो सकता है? किस प्रकार सामाजिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है? यह है व्यवहार नय। अपना उत्थान कैसे हो, यह है निश्चय नय। यदि दोनों समानांतर रेखा की भांति साथ-साथ चलें तो पूर्णता की संभावना की जा सकती है।

साझेदारी का अनुभव करें

ऐसा लगता है—प्रकृति को पूरी बात मान्य नही है। यदि एक ही धर्म सब काम करने लग जाए तो दूसरे क्या करेगे। कार्य का एक सहज विभाजन हो गया। हम यह कल्पना न करें—जैन धर्म के हिस्से मे निश्चय नय की बात आ गई, आत्म-साधना या मोक्ष का मार्ग आ गया और ईसाई धर्म के हिस्से मे समाज सेवा करना, गरीबो का उत्थान करना आदि कार्य आ गया। हम यह मानें—यह साझेदारी का काम है। हालांकि जैन समाज वर्तमान में समाज सेवा के अनेक कार्यो में अग्रणी भूमिका निभा रहा है और अपने व्यापक आधार को पुन उपलब्ध करने की दिशा मे गति कर रहा है। ईसाई और जैन—दोनों भाई-भाई है। हमारी एक साझेदारी है। एक भाई को काम मिला है – आत्मतत्त्व के प्रसार का और दूसरे भाई को काम मिला है समाज सुधार का।

परस्परता का भाव जागे

हम भाईचारे का अनुभव करे, साझेदारी का अनुभव करे। ऐसा

माने—एक गुरु के दो शिष्य हैं। गुरु ने उन दोनो को दो अलग-अलग क्षेत्रो मे काम करने का दायित्व सौंप दिया है। दोनों शिष्य अपने अपने काम की पूर्ति में निष्ठा से लगे हुए हैं। गुरु के कार्य मे दोनों की साझेदारी है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है—साझेदारी का अनुभव करना। न हीनता और न उत्कर्ष। न तिरस्कार और न घृणा। किन्तु परस्परता—एक-दूसरे का पूरक होने का भाव। दुनिया के महान् साम्राज्य में रहने वाले सब लोग अपनी साझेदारी का, अपने पर आए हुए दायित्व का अनुभव करे तो बहुत अच्छा समन्वय सध जाए। न किसी का खण्डन और न किसी का मण्डन! न किसी का तिरस्कार और न किसी को पुरस्कार। सबका अपना अपना काम और अपना अपना योग। इस योग के आधार पर हम साझेदारी की भावना को आगे बढ़ाएं तो तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकेगा।

ध्यान-योग

ध्यान की विभिन्न धाराएं

योग का आदि - बिन्दु

ध्यान की परम्परा बहुत प्राचीन है। उसका आदिस्रोत खोजना बहुत कठिन है। यह प्राग्-ऐतिहासिक है। उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर योग के आदि - बिन्दु की कल्पना की जा सकती है। आदिनाथ को योग का प्रवर्तक वतलाया गया है।[1] 'आदिनाथ' यह नाम जैन और शैव—दोनों परंपराओं में प्रसिद्ध है। जैन परंपरा में आदिनाथ भगवान् ऋषभ का नाम है और शैव परम्परा में आदिनाथ शिव का नाम है। आधुनिक विद्वानो का अभिमत है कि ऋषभ और शिव—दोनों एक ही व्यक्ति हैं। वह दो भिन्न परपराओं में दो नामो से प्रतिष्ठित हैं। आचार्य शुभचन्द ने ज्ञानार्णव के प्रारंभ में भगवान् ऋषभ की एक योगी के रूप मे वदना की है।[2] महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ योग का वेत्ता है। उससे पुराना कोई योगवेत्ता नहीं है।[3] सांख्य योग परंपरा मे हिरण्यगर्भ सगुण ईश्वर के रूप मे मान्य रहा है। श्रीमद् भागवत मे भगवान ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।[4] उन्होने नाना योग चर्याओं का चरण किया था।[5] संभव है उनके ऋषभ, आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा—ये नाम प्रचलित थे।

---

1 हठयोग प्रदीपिका १/१७

श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।

2 ज्ञानार्णव १/२

योगिकल्पतरु नौमि, देवदेव वृषभध्वज।

3 महाभारत शान्तिपूर्व अ ३४९/६५

हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्तानान्य पुरातन ।

4 श्रीमद् भागवत ५/४/३

भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर ।

5 श्रीमद् भागवत ५/५/२६

नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभ।

प्राग् ऐतिहासिक काल में

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एक मात्र पति है।[1] किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी? शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है। कई विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वानों का कहना है कि वह संसारी है।[2] यह संदेह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[3] आत्म-विद्या संन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ "ऋषभ" ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ में थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया।[4]

हिरण्यगर्भ सांख्य दर्शन में मान्य सगुण ईश्वर या पुरुष विशेष है इसलिए प्राग्-ऐतिहासिक काल में ध्यान परंपरा का आदि बिन्दु भगवान ऋषभ, शैव और सांख्य पद्धति मे खोजा जा सकता है।

ध्यान : ऐतिहासिक काल में

ऐतिहासिक काल में ध्यान परंपरा के स्रोत सांख्य, शैव, तंत्र, बौद्ध, जैन और नाथ संप्रदाय में उपलब्ध हैं। साख्य दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतंजलि के योग-दर्शन मे मिलता है। वह ई.पू. दूसरी शताब्दी की रचना है। पाणिनि के भाष्यकार, चरक के प्रति-संस्कर्ता और योग-दर्शन के कर्ता महर्षि पतंजलि एक ही व्यक्ति हैं। अतः उनका अस्तित्वकाल पाणिनी के बाद का है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई.पू. ३२२ से १८६ तक माना जाता है। मौर्य-वंश का अंतिम राजा बृहद्रथ

---

1 ऋग्वेद, १०/१०/१२१/१

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स सदाधारपृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

2 वृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/६, भाष्य, प १८५

अत्र विप्रतिपद्यन्ते — पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। ससारीत्यपरे।

3 तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक् ६२, मायण भाष्य।

4 महापुराण, १२/९५

सैषा हिरण्यमयी वृष्टि धनेशेन निपातिता।
विभो! हिरण्यगर्भत्वमिव वोधयितु जगत्।।

था। वह ई.पू. १८५ में अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया था। महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्व काल ई.पू. दूसरी शताब्दी है। बौद्ध-दर्शन का साधनामार्ग अभिधम्मकोष (ई. सन् पांचवी शताब्दी) और विशुद्धिमग्ग (ई. सन् पांचवी शताब्दी) में उपलब्ध है। आचारांग ई. पू. पांचवीं शताब्दी की रचना है।

ध्यानः प्रतिनिधि ग्रंथ

पातंजल योग दर्शन सांख्य सम्मत ध्यान पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। अभिधम्म कोश और विशुद्धिमग्ग बौद्ध सम्मत ध्यानपद्धति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। आचारांग जैन साधना पद्धति और ध्यान पद्धति का मौलिक ग्रंथ है। भगवान पार्श्व ध्यान पद्धति के उन्नायक थे। उनकी ध्यानपद्धति जैन शासन और बौद्ध-शासन–दोनों में संक्रान्त हुई है। विपश्यना ध्यान आचारांग और विशुद्धिमग्ग-दोनों में उपलब्ध है।

सांख्य साधना पद्धति

महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में योग की व्यवस्थित पद्धति भी निरूपित है। उसकी अष्टांग योग प्रणाली में योग बहिरंग और अंतरंग – इन दो भागो मे विभक्त किया गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार – ये बहिरंग योग हैं। धारणा, ध्यान और समाधि – ये तीन अतरंग योग हैं।[1] यह स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उपलब्ध ध्यान ग्रंथो में पातंजल योगदर्शन सर्वांगीण और सुव्यवस्थित ग्रंथ है। इसमे कुण्डलिनी योग और षट् चक्र का निरूपण नहीं है। बौद्ध ध्यान पद्धति मे भी उनका वर्णन नहीं है। तत्रशास्त्र, नाथ साधना पद्धति और हठयोग मे उनका निरूपण हुआ है।

तंत्र साधना

भारत में तत्र की परंपरा भी वहुत प्राचीन है। ईसा से पंद्रह सौ वर्ष पूर्व तत्र विद्या भारत से बाहर जा चुकी थी। उत्तरकालीन बौद्धो ने तंत्र को वहुत महत्त्व दिया। बौद्ध तत्र ने विपश्यना का स्थान ले लिया। तंत्र प्रधान

---

1 पातंजल योगदर्शन ३/७ त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्य ।

प्राग् ऐतिहासिक काल में

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एक मात्र पति है।[1] किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी? शकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है। कई विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वानो का कहना है कि वह संसारी है।[2] यह संदेह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[3] आत्म-विद्या संन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ "ऋषभ" ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ में थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया।[4]

हिरण्यगर्भ सांख्य दर्शन में मान्य सगुण ईश्वर या पुरुष विशेष है इसलिए प्राग्-ऐतिहासिक काल मे ध्यान परंपरा का आदि बिन्दु भगवान ऋषभ, शैव और सांख्य पद्धति मे खोजा जा सकता है।

ध्यान : ऐतिहासिक काल में

ऐतिहासिक काल में ध्यान परंपरा के स्रोत सांख्य, शैव, तंत्र, बौद्ध, जैन और नाथ संप्रदाय में उपलब्ध हैं। सांख्य दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतंजलि के योग-दर्शन में मिलता है। वह ई.पू. दूसरी शताब्दी की रचना है। पाणिनि के भाष्यकार, चरक के प्रति-संस्कर्ता और योग-दर्शन के कर्ता महर्षि पतंजलि एक ही व्यक्ति हैं। अतः उनका अस्तित्वकाल पाणिनी के बाद का है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई.पू. ३२२ से १८६ तक माना जाता है। मौर्य-वंश का अंतिम राजा बृहद्रथ

---

1 ऋग्वेद, १०/१०/१२१/१

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स सदाधारपृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

2 बृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/६, भाष्य, प १८५

अत्र विप्रतिपद्यन्ते – पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। ससारीत्यपरे।

3 तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक् ६२, सायण भाष्य।

4 महापुराण, १२/९५

सैषा हिरण्मयी वृष्टि धनेशेन निपातिता।
विभो! हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितु जगत्।।

था। वह ई.पू. १८५ में अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया था। महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्व काल ई.पू. दूसरी शताब्दी है। बौद्ध-दर्शन का साधनामार्ग अभिधम्मकोष (ई. सन् पांचवी शताब्दी) और विशुद्धिमग्ग (ई. सन् पांचवी शताब्दी) में उपलब्ध है। आचारांग ई. पू. पांचवीं शताब्दी की रचना है।

ध्यान: प्रतिनिधि ग्रंथ

पातंजल योग दर्शन सांख्य सम्मत ध्यान पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। अभिधम्म कोश और विशुद्धिमग्ग बौद्ध सम्मत ध्यानपद्धति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। आचारांग जैन साधना पद्धति और ध्यान पद्धति का मौलिक ग्रंथ है। भगवान पार्श्व ध्यान पद्धति के उन्नायक थे। उनकी ध्यानपद्धति जैन शासन और बौद्ध-शासन—दोनों में संक्रान्त हुई है। विपश्यना ध्यान आचारांग और विशुद्धिमग्ग-दोनों में उपलब्ध है।

सांख्य साधना पद्धति

महर्षि पतजलि के योगदर्शन मे योग की व्यवस्थित पद्धति भी निरूपित है। उसकी अष्टांग योग प्रणाली में योग बहिरंग और अंतरंग – इन दो भागो में विभक्त किया गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार – ये बहिरंग योग हैं। धारणा, ध्यान और समाधि – ये तीन अतरंग योग हैं।[1] यह स्वीकार करने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि उपलब्ध ध्यान ग्रंथो में पातंजल योगदर्शन सर्वांगीण और सुव्यवस्थित ग्रथ है। इसंमे कुण्डलिनी योग और षट् चक्र का निरूपण नही है। बौद्ध ध्यान पद्धति में भी उनका वर्णन नही है। तत्रशास्त्र, नाथ साधना पद्धति और हठयोग में उनका निरूपण हुआ है।

तंत्र साधना

भारत मे तत्र की परपरा भी वहुत प्राचीन है। ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व तंत्र विद्या भारत से वाहर जा चुकी थी। उत्तरकालीन बौद्धो ने तत्र को बहुत महत्त्व दिया। बौद्ध तत्र ने विपश्यना का स्थान ले लिया। तत्र प्रधान

---

1 पातञ्जल योगदर्शन ३/७ त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ।

बन गया। तंत्र के प्रभाव से जैन परंपरा भी अस्पृष्ट नहीं रह सकी। जैन आचार्यों ने भी तंत्र पर विशाल साहित्य रचा।

चक्र और कुण्डलिनी

चक्र और कुण्डलिनी – ये ध्यान के बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। जैन ध्यान पद्धति में इनका समावेश प्राचीन काल से रहा है। नाम भेद के कारण उसका आकलन नहीं किया जा सका। आगम साहित्य तथा उत्तरवर्ती प्राचीन साहित्य में चक्र पद्धति का विशद वर्णन मिलता है।[1] जैन साहित्य में तेजोलब्धि का अनेक स्थलों में निरूपण हुआ है। यह तंत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रंथों में निरूपित कुण्डलिनी है।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य मे कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुण्डलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग में कुंडलिनी का जो वर्णन है, उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।[2]

शैव परंपरा

शैव परंपरा में विज्ञान भैरव बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमे ध्यान की सौ से अधिक पद्धतियां बतलाई गई हैं। उसके अनुभवी साधक कम मिलते हैं पर संकलन की दृष्टि से निश्चित ही वह विशिष्ट ग्रंथ है।

बौद्ध ध्यान प्रणाली

भगवान् बुद्ध ध्यान - प्रधान साधक थे। उन्होने ध्यान पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने आनापानसती और विपश्यना के विशेष प्रयोग किए।

---

1 मनन और मूल्यांकन (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ठ-७८-८४।
2 जैन योग (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ठ-१५३।

ईसा की छठी शताब्दी में बोधिधर्म नाम के एक भिक्षु हुए। उन्होंने ध्यान संप्रदाय की स्थापना की। वह ध्यान संप्रदाय कोरिया और जापान में भी फैला। भगवान बुद्ध ने अपने अगोचर सत्य और परम शुद्ध ज्ञान को महाकाश्यप के मन में संप्रेषित किया। महाकाश्यप ने वह ज्ञान आनंद के मन में संप्रेषित किया। बुद्ध परंपरा के अनुसार बुद्ध के उद्गम से निकलकर ध्यान-सम्प्रदाय के ज्ञान की यह धारा क्रमशः महाकाश्यप और आनन्द में होकर गुरु-शिष्य क्रम से निरन्तर बहती चली गई और भारत मे बोधिधर्म इसके अट्ठाईसवें और अन्तिम गुरु हुए। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थों में इन अट्ठाईस धर्माचार्यों के नाम सुरक्षित हैं, जो महाकाश्यप से आरम्भ कर इस प्रकार हैं—

१. महाकाश्यप
२. आनन्द
३. शाणवास
४ उपगुप्त
५. धृतक
६. मिच्छक
७ वसुमित्र
८ वुद्धनन्दी
९. वुद्धमित्र
१०. भिक्षु पार्श्व
११. पुण्ययशस्
१२. अश्वघोष
१३. भिक्षु कपिमाल
१४ नागार्जुन
१५. काणदेव
१६ आर्यराहुलक
१७. संघनन्दी
१८. संघयशस्
१९. कुमारिल
२०. जयंत
२१. वसुबन्धु
२२. मनुर
२३. हक्लेनयशस्
(या केवल हक्लेन)
२४. भिक्षु सिंह
२५. वाशसित
२६. प्रज्ञातर
२७. पुण्यमित्र
२८. वोधिधर्म

इस धारा के अनुसार वोधिधर्म अट्ठाईसवे और अन्तिम धर्मनायक हैं और वे चीन मे ध्यान संप्रदाय के प्रथम धर्म नायक हुए हैं।[1]

ईसा की छठी शताब्दी में ही बौद्ध धर्म की तंत्र शाखा का विकास हुआ। यह धीमे-धीमे बुद्ध के मार्ग से दूर हटती गई। इसने इन्द्रिय भोग का समर्थन शुरु कर दिया। ध्यान के स्थान पर मंत्र का जप प्रधान बन गया।

[1] ध्यान सम्प्रदाय डा० भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ १३-१४।

हठ योग

हठ योग तंत्रशास्त्र, शैव साधना पद्धति और पातंजल योग-दर्शन से प्रभावित है। गोरक्ष पद्धति में योग के छः अंग बतलाए गए – आसन, प्राण-संरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[1] हठयोग प्रदीपिका में राजयोग के लिए हठविद्या की आवश्यकता बतलाई गई है।[2] हठविद्या का मूल नाथ-साधना पद्धति है।[3] उसमें नाथ संप्रदाय की परंपरा दी गई है। उस परंपरा में आदिनाथ प्रथम हैं। दूसरा स्थान मत्स्येन्द्रनाथ का है।[4] हठयोग प्रदीपिका में आसन को प्रथम स्थान दिया गया है।[5] हठयोग में षट्कर्म, बंध, मुद्रा आदि का विकास हुआ है।

नाथ संप्रदाय

नाथ संप्रदाय को कुछ विद्वान बौद्ध परंपरा से अनुस्यूत मानते हैं। कुछ विद्वान् नाथ संप्रदाय का संबंध जैन परंपरा से जोड़ते है।

अब यह सिद्ध हो गया है कि नेमिनाथ की भारतीय लोक जीवन मे गहरी पैठ थी, यह तथ्य गोरखपंथियों में अन्तर्भुक्त 'नीमनाथी' संप्रदाय से भी सिद्ध होता है। इस संदर्भ में सन्त परम्परा में प्रचलित 'सद्गुरु' शब्द है, यह जैनियों का शब्द है। इसका उनके अलावा और कहीं प्रयोग नही मिलता। जैन कवियों ने इसका प्रयोग किया है। हरिवंश-पुराण मे भीलो के श्रावक व्रत ग्रहण करने के वर्णन भी आए हैं।

नेपाल के 'पेन-पो' संप्रदाय पर अनुसंधान होने से भी पार्श्वनाथ के जीवन पर नया प्रकाश पड सकता है। 'पेन-पो' पश्चिम नेपाल का एक

---

1 गोरक्ष पद्धति १/७ आसन प्राण-सरोध प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यान समाधि एतानि योगाशानि वदन्ति षट्।।

2 हठयोग प्रदीपिका १/२ प्रणम्य श्री गुरु नाथ, स्वात्मारामेण योगिना।
केवल राजयोगाय, हठविद्योपदिश्यते।।

3 हठयोग प्रदीपिका १/४ हठविद्या हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाया विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादत ।।

4 हठयोग प्रदीपिका १/५ श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्रशावरानदभैरव ।

5 हठयोग प्रदीपिका १/१७ हठस्य प्रथमागत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासन स्थैर्यमारोग्य चागलाघवम्।।

दिगम्बर संप्रदाय है। इसके मानने वाले ठाकुर कहलाते हैं। यह नग्न खड्गासनी मूर्तियां पूजते हैं। इनकी मान्यताएं जैनियों से मेल खाती हैं। ईश्वर के कर्तृत्व पर इनकी आस्था नही है और ये विशुद्ध शाकाहारी हैं।[1]

'चांदनाथ संभवत: वह प्रथम सिद्ध थे, जिन्होंने गोरक्ष मार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थकरो के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैन साधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।[2]'

जैन साधना पद्धति में आसन

जैन साधना पद्धति मे यम-नियम प्रारंभ से ही मान्य हैं। आसन भी मान्य रहे हैं। बौद्ध साधना पद्धति में आसनों के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु जैन साधना पद्धति में उन्हें बहुत मूल्य दिया गया है। भगवान् महावीर स्वयं अनेक आसनों का प्रयोग करते थे। उन्हें केवलज्ञान आसन की विशेष मुद्रा मे उपलब्ध हुआ था।[3] स्थानांग सूत्र में निषद्या के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं[4]—

१. उत्कटुका — पुतो को भूमि से छुआए बिना पैरों के बल पर बैठना।
२. गोदोहिका — गाय की तरह बैठना या गाय दुहने की मुद्रा मे बैठना।
३. समपादपुता — दोनो पैरो और पुतो को छुआ कर बैठना।
४. पर्यका — पद्मासन।
५ अधपर्यका — अर्ध पद्मासन।

जैन आचार्यो ने कुछ शर्तो के साथ प्राणायाम को भी मान्य किया है।[5]

साधना की परंपराएं

ध्यान की तीन परपराएं मिलती हैं। प्राचीनतम ध्यान पद्धति का नाम है

1 तीर्थंकर, नवम्बर १९७१, पृष्ठ ४-६।
2 नाथ सम्प्रदाय (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ १९०
3 [illegible] १५/३८
4 ठाणं ५/५०
5 [illegible] (मुनि [illegible]) पृ २७०-२७१

— विपश्यना, पश्यना[1] या पासणिया[2]। दूसरी श्रेणी की ध्यान पद्धति है — धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान, जिसका वर्णन स्थानांग मे विस्तार के साथ उपलब्ध है। श्वेतांम्बर और दिगम्बर — दोनों परम्पराओ के साहित्य मे दीर्घकाल तक इसी पद्धति का अनुसरण किया गया। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और जबू — ये केवली हुए। केवली परंपरा के विच्छिन्न होने के पश्चात् श्रुतकेवली की परंपरा चली। चतुर्दश पूर्वी श्रुतकेवली कहलाते हैं। छः श्रुतकेवली हुए — प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र। भद्रबाहु ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी और यह माना जाता है कि चतुर्दश पूर्वी ही महाप्राण ध्यान की साधना कर सकता है। महाप्राण ध्यान के विषय में यत्र-तत्र कुछ जानकारी है पर इसकी विशेष विधि का व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नहीं है।

ध्यान पद्धति : कुछ आयाम

आचार्य कुन्दकुन्द की ध्यान पद्धति ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धोपयोग प्रधान थी। वह भी प्राचीन परंपरा से अनुस्यूत है। पूज्यपाद का समाधितंत्र भी उसी कोटि का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हरिभद्र सूरि ने ध्यान की पद्धति को एक नया आयाम दिया। इस विषय मे योगविंशिका और योगदृष्टि समुच्चय — दोनों ग्रंथ द्रष्टव्य हैं। अन्य प्रचलित ध्यान पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन तथा जैन परिभाषा के साथ उसका सामञ्जस्य विठाने मे उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुभचंद्र के ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचंद्र के योगशास्त्र में तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उसमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन तथा पार्थिवी, वारुणी आग्नेयी, वायवी और तत्वरूपा — इन पांच धारणाओं का उल्लेख जैन ध्यान पद्धति के क्षेत्र मे नया संग्रहण है। पिछली आठ दस शताब्दियों मे इन्ही का प्रयोग होता रहा। उपाध्याय यशोविजयजी ने हरभिद्रसूरि का अनुकरण किया है।

ध्यान विचार : महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

ध्यानविचार एक अज्ञातकर्तृक कृति है। उसमे ध्यान के चौवीस मार्ग,

---

1 पन्नवणा ३०/१५।
2 पन्नवणा ३०/१

बतलाए गए हैं – ध्यान, परमध्यान, शून्य, परमशून्य, कला, परमकला, ज्योति, परमज्योति, बिन्दु, परमबिन्दु, नाद, परमनाद, तारा, परमतारा, लय, परमलय, लव, परमलव, मात्रा, परममात्रा, पद, परमपद, सिद्धि, परमसिद्धि। प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है। उसमें एतद्विषयक प्राकृत गाथा उद्धृत है।[1] उससे पता चलता है कि यह चौबीस ध्यान की परंपरा ग्रन्थकाल से प्राचीन काल में रही है। यह ग्रन्थ ध्यान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें ध्यान के विविध मार्गों का समाहार है। ध्यान के इन चौबीस मार्गों का प्रयोग जैन परंपरा में कब से प्रारंभ हुआ और कब तक होता रहा – इस बारे में निश्चय पूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। यह विषय अन्वेषणीय है।

जपयोग

आनदघनजी और चिदानंदजी जैसे कुछ योगी संत हुए हैं। उनकी साधना अध्यात्म-चिन्तन, जप, मंत्र और स्वरोदय से प्रभावित रही है।

जैन परंपरा में मत्र साधंना के साथ साथ जपयोग का भी विकास हुआ है। उसका इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पुराना है।

ध्यान और जयाचार्य

ईसा की अठारहवीं शताब्दी में जयाचार्य ने ध्यान पर कुछ लघु ग्रन्थ लिखे। पद्धति की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं[2]। ध्यान-विधि के संदर्भ मे जयाचार्य के कुछ निर्देश ये हैं–

---

1 ध्यान विचार पृ १ श्लोक १

सुन्नकलजोइबिन्दू, नादो तारा लओ लवो मत्ता।
पयसिद्धी परमजुया झाणाई हुंति चउवीसा।।

2 आराधना श्लोक (२-६) पृ १५

धर आसन एकान्त रहि, प्राणायाम प्रसाधि।
भ्रूमध दृष्टि नुथाप मन, नझिये ध्यान समाधि।।

पद पर ध्यान पदस्थ वर, "अध्रुवे" इत्यादीन।
निज बीतक दुख चिन्तवन, उदासीन आलीन।।

अनापात– जन स्थान जई, तन मन स्थिर धर ध्यान।
वो दिन वेला कब हुवै, मिटत धग दुख-खान।।

मध्याह्न सध्या पछै, प्रात समय निशि माय।
अवश्य नियम करि ने जुदया, मिटिवै विषय-उपाय।।

अन्न पत्रादि मन्तर्धाइन्, कठिन वचन नहु कोप।
स्तुति करनै नहि दुर्मनि वर, धीरपनै चित चोप।।

श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षा में भी है। अन्तर श्वास का नहीं है, अन्तर है दर्शन की पृष्ठभूमि का, दार्शनिक आधार का। जब तक हम उसके आधार को न समझ ले तब तक केवल प्रयोग के आधार पर समानता और असमानता की बात समझ में नहीं आ पाएगी। प्रेक्षा ध्यान का आधार है जैन दर्शन और विपश्यना का आधार है बौद्ध दर्शन। बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दु.ख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए तीन शर्ते हैं – अनित्य का ज्ञान, दु:ख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनो का ज्ञान होने पर विपश्यना प्रगट होती है। बौद्ध दर्शन का सिद्धांत है – क्षणिकवाद। प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है। यह विपश्यना का एक मूल आधार है।

विपश्यना का दूसरा आधार है दु:ख का ज्ञान। जन्म, बुढापा, रोग और मरण – ये दु:ख है। यह दु:ख का ज्ञान विपश्यना का आधार तत्त्व है।

विपश्यना का तीसरा मूल आधार है – अनात्म का ज्ञान।

जब इस त्रिपदी का ज्ञान स्पष्ट होता है तब विपश्यना प्रगट होती है।

प्रेक्षा : दार्शनिक आधार

प्रेक्षा कब होती है? जब नित्यानित्य का ज्ञान होता है तब प्रेक्षा होती है। उत्पाद और व्यय को ध्रौव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन की भाषा मे जो सत् है वह त्रयात्मक है। नित्य और अनित्य – दोनो का ज्ञान, यह प्रेक्षा का पहला आधार है।

जैन दर्शन मे केवल दु खवाद का स्वीकार नही है। जितना स्थान दु.ख का है उतना ही सुख का स्थान है। भगवान् महावीर ने जन्म, मरण, बुढापा और रोग – इन चारो दु.खों को स्वीकार किया है, साथ-साथ सुख को भी स्वीकार किया है। जैन दर्शन एकान्त दु:खवादी नही है। पौद्गलिक सुख भी सुख है। साधना-काल मे भी सुख की अनुभूति होती है इसलिए सुखवाद भी मान्य है।

प्रेक्षा ध्यान का एक उद्देश्य है – निर्मोह होना। उसका एक उद्देश्य अज्ञान से मुक्त होना भी है। ज्ञानावरण से मुक्त होना है, सर्वज्ञ होना है। सर्वज्ञता भी जैन दर्शन मे मान्य है। प्रेक्षा ध्यान का मूल आधार है –

आत्मा का ज्ञान। जैन दर्शन आत्मवादी है, आत्मा को स्वीकार करता है। जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होता, प्रेक्षा का प्रारभ ही नहीं होता।

जैन दर्शन मे कोरा अनित्यवाद मान्य नही है, कोरा दु:खवाद मान्य नही है और अनात्मवाद सर्वथा ही मान्य नहीं है। इन तीन आधारो से प्रेक्षा और विपश्यना के मूल दार्शनिक आधार की भिन्नता स्पष्ट है।

प्रेक्षाध्यान : प्राणतत्त्व

प्रेक्षाध्यान की पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का पहला बिन्दु है कायोत्सर्ग — शरीर को त्यागना और उसका अन्तिम बिन्दु है कायोत्सर्ग—काया का निरोध, काया का उत्सर्ग। इसका तात्पर्य है भेद-विज्ञान। 'आत्मा अलग है और शरीर अलग है', 'आत्मा अलग है, पुद्गल अलग है', 'मैं आत्मा हूं, मैं शरीर नहीं हूं'—इसकी अनुभूति भेद-विज्ञान है। प्रेक्षाध्यान करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य वहां पहुंचना है जहां पहुंचने पर आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाए।

जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष आत्मा के आधार पर चलता है। जैन दर्शन-का एक कदम भी आत्मा को छोड़कर आगे नही बढता। सारा आचारशास्त्र आत्मा पर आधारित है। एक साधक ने श्वास-प्रेक्षा की, श्वास के प्रकंपनों का पता चला। शरीर-प्रेक्षा की, शरीर के प्रकम्पनो का पता चला किन्तु उसे कम्पनो में ही नही अटकना है, अकंप की ओर जाना है। इन प्रकम्पनों के बीच एक अप्रकंप है, जो कभी कंपित नही होता, उसका साक्षात्कार करना है। यह बात बौद्ध दर्शन-सम्मत नही है क्योंकि उसमे आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नही है।

मौलिक अन्तर

बुद्ध ने कहा — दु:ख को मिटाओ, दु:ख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगडे मे मत पडो। बुद्ध ने दु:ख को मिटाने का सीधा मार्ग बताया। महावीर का मार्ग कुछ टेढा है। महावीर ने कहा — वर्तमान में जो सामने है, केवल उसी पर मत अटको, मूल तक जाओ। बुद्ध का दर्शन है — अग्र पर ध्यान केन्द्रित करो। महावीर का दर्शन है — केवल अग्र को मत पकडो, मूल तक जाओ, आत्मा तक जाओ। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन मे

यह मूलभूत अन्तर है।

विपश्यना पद्धति मन को शांत करने के लिए है, राग-द्वेष को कम करने के लिए है, केवल जानने और देखने के लिए है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में मन को शान्त करने की बात मुख्य नहीं है। केवल ज्ञाता-द्रष्टा होना साधन है, साध्य नहीं है। साध्य है आत्मा का साक्षात्कार, आत्मा को जान लेना। प्रेक्षा और विपश्यना में यह एक मौलिक अन्तर है – प्रेक्षाध्यान के साथ जुड़ा है—आत्म-साक्षात्कार का दर्शन और विपश्यना के साथ जुड़ा है – दु:ख को मिटाने का दर्शन।

सन्दर्भ : श्वास प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना में कुछ प्रयोग समान हैं। समानता का एक बिन्दु है श्वास-प्रेक्षा। श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षा में भी है किन्तु उसकी प्रयोग-पद्धति में अन्तर है। विपश्यना में बल दिया जाता है सहज श्वास को देखने पर और प्रेक्षाध्यान में बल दिया जाता है दीर्घ श्वास प्रेक्षा पर। विपश्यना में अप्रयत्न मान्य है। प्रेक्षाध्यान में प्रयत्न को भी मान्य किया गया है। यह निर्देश दिया जाता है—हम प्रयत्नपूर्वक लम्बा श्वास लें और श्वास की प्रेक्षा करें। इस दृष्टि से आनापानसती और श्वास प्रेक्षा की स्थूल अर्थ मे ही तुलना हो सकती है। एक ओर सहज श्वास का प्रयोग है तो दूसरी ओर प्रयत्नकृत दीर्घ श्वास का प्रयोग।

विपश्यना मे कहा जाता है – आयास मत करो, जो अनायास, सहज चल रहा है, उसकी विपश्यना करो, उसे देखो। प्रेक्षा में आयास वर्जित नहीं है। प्रयत्न से श्वास को लंवाना हमारी दृष्टि में ज्यादा उपयोगी है। दीर्घ श्वास से अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक लाभ होते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से लम्बा श्वास लेना (Long Breathing) वहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

श्वास-संयम : समवृत्ति श्वास प्रेक्षा

दूसरा अन्तर है – श्वास-सयम का। विपश्यना मे कुंभक का प्रयोग मान्य नही है। प्रेक्षाध्यान में कुम्भक का प्रयोग भी करवाया जाता है। प्रेक्षाध्यान में लयवद्ध श्वास को भी वहुत महत्त्व दिया जाता है। श्वास को लयवद्ध करने की एक प्रक्रिया है—पाच सैकेंड में श्वास लेना, पांच सैकेंड

भीतर रोकना, पांच सैकेंड में बाहर निकालना और पांच सैकेंड बाहर रोकना – इस प्रकार बार-बार श्वास की आवृत्ति करना लयबद्ध श्वास है।

प्रेक्षाध्यान मे समवृत्ति श्वास प्रेक्षा का जो प्रयोग कराया जाता है, वह विपश्यना मे नहीं है। समवृत्ति श्वास प्रेक्षा की पद्धति है—दाएं नथुने से श्वास ले, बाएं से निकालें, पुनः बाएं नथुने से श्वास लें, दाएं नथुने से निकालें। चित्त और श्वास—दोनों साथ-साथ चलें, निरन्तर श्वास का अनुभव करें।

चन्द्रभेदी श्वास का प्रयोग, सूर्यभेदी श्वास का प्रयोग, उज्जाई श्वास का प्रयोग—ये सारे प्रयोग प्रेक्षाध्यान को विपश्यना से पृथक् कर देते हैं। प्रेक्षाध्यान में केवल श्वास प्रेक्षा के पचास प्रकार के प्रयोग विकसित हुए हैं, जो सम्मत हैं, ज्ञात और मान्य हैं।

सन्दर्भ : आसन

विपश्यना मे आसन का निषेध है, क्योंकि बौद्ध साधना पद्धति मे आसन सम्मत नही है। भगवान् महावीर ने आसनों को बहुत महत्त्व दिया। डॉ० नथमल टाटिया बौद्ध-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने कहा – महाराज! प्रेक्षाध्यान में आसन का प्रयोग करवाया जाता है। यह हठयोग से लिया गया है। मैंने कहा – डाक्टर साहब! आसन हठयोग से नहीं लिए गए हैं। भगवान् महावीर ने स्वयं अनेक आसनो के प्रयोग किए हैं। महावीर को केवलज्ञान भी एक विशिष्ट आसन मे उपलब्ध हुआ। स्थानांग सूत्र मे आसनो के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। तपस्या का एक प्रकार है, काय-क्लेश—आसन का प्रयोग। मैंने विस्तार मे इस बात को बतलाया—जैनो मे कहा-कहा आसन के संबध मे क्या कुछ लिखा गया है। इस विषय पर चली लम्बी चर्चा के बाद डाक्टर टाटिया ने स्वीकार किया—आसन का प्रयोग किसी से लिया हुआ नही है, परम्परा से सहज प्राप्त है। डाक्टर टाटिया ने कहा – बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन की साधना प्रक्रिया मे यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बौद्धो मे आसन वर्जित रहे हैं और जैन दर्शन मे मान्य।

वस्तुत. आसन कोई शरीर परिकर्म नही है। आसन साधना की एक

पद्धति है। वृत्तियों पर नियन्त्रण कैसे किया जाए? कर्मों की निर्जरा कैसे की जाए? इसका एक उपाय है आसन। इसके साथ-साथ आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है। जो व्यक्ति ध्यान करता है किन्तु आसन नहीं करता, वह कुछ हानियां भी उठाता है। ध्यान से पाचन तंत्र गड़बड़ा जाता है, अग्नि मंद हो जाती है इसलिए ध्यान के साथ आसन का होना अत्यन्त जरूरी है।

संदर्भ : प्राणायाम

विपश्यना में प्राणायाम का कोई स्थान नहीं है पर प्रेक्षाध्यान मे प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है। प्राणायाम प्राण-नियन्त्रण के लिए बहुत आवश्यक है। जब तक प्राण पर नियन्त्रण नहीं होता तब तक चंचलता पर नियन्त्रण नहीं हो सकता। हठयोग में प्राणायाम को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है। प्रेक्षाध्यान पद्धति मे भी उसका पर्याप्त महत्त्व है। प्रेक्षाध्यान शिविरो मे प्राणायाम का प्रयोग भी करवाया जाता है।

सन्दर्भ : मौन

विपश्यना में मौन का प्रयोग काफी कड़ाई से करवाया जाता है। उसमें दस दिन पूर्ण मौन का प्रयोग होता है। प्रेक्षाध्यान में मौन पर इतना बल नही दिया जाता। हम उसे अनिवार्य नहीं मानते। हम यह चाहते हैं—प्रेक्षाध्यान शिविर की एक ऐसी सामान्य पद्धति रहे, जिसे शिविर के बाद भी जीवन-भर जिया जा सके। मौन का एक-दो घंटे का प्रयोग सम्यक् रूप से हो सकता है पर निरन्तर दस दिन तक मौन रहना एक सामान्य आदमी के लिए समस्या है। प्रेक्षा शिविरो मे यह निर्देश दिया जाता है – अनावश्यक बातचीत न करें, आवश्यकता होने पर ही बोलें। मौन करे तो उसका सही अर्थ मे पालन करे। ऐसा न हो कि मौन भी करे और उसमें इतने इशारे, संकेत कर ले, जिससे मौन का भी उपहास हो जाए।

विपश्यना के प्रकार

विपश्यना के कई प्रकार हैं—आनापानसती, काय विपश्यना, धर्मानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि। किन्तु वर्तमान में विपश्यना का जो क्रम चल रहा है, उसमे मुख्य रूप मे दो प्रयोग करवाए जाते हैं—आनापानसती—श्वास-प्रश्वास को देखना और काय विपश्यना –

शरीर को देखना। जहां तक हमने जाना है, इन दो प्रयोगों के अलावा विपश्यना पद्धति में तीसरा प्रयोग नहीं चल रहा है।

सन्दर्भ : चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना में मूलभूत रेखा खींचने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह प्रयोग भी विपश्यना में नहीं है और शायद इसलिए नहीं है कि उसमें किसी एक स्थान पर टिकना पसंद नहीं किया जाता। उसमें पूरे शरीर को देखते चले जाते हैं, कहीं रुकते नहीं हैं। यदि हम शरीर को देखते चले जाएंगे तो धारणा होगी पर ध्यान नहीं होगा। हम इसे इस भाषा में समझें—बछड़ा आंगन में उत्पात मचा रहा है। उसे पकड़कर एक खूंटे से बांध दिया तो वह ज्यादा कूद-फांद नहीं कर पाएगा। इसका नाम है धारणा। वह बछड़ा आसपास में ही चक्कर लगाएगा जब वह थक जाएगा, तब वहीं बैठ जाएगा। यह है ध्यान। ध्यान का मतलब है-चित्त को एक स्थान पर टिका देना। मन को एक स्थान पर टिकाया और मन लम्बे समय तक उसी विषय पर टिका रहा, मन शान्त हो गया, यही है ध्यान।

ध्यान का अंग है धारणा

हमारे दृष्टिकोण में श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा—दोनों धारणा के प्रकार हैं। ध्यान शुरू होता है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा से। किसी एक चैतन्य केन्द्र पर ध्यान शुरू किया, यह धारणा है। आधा घंटा तक उसी केन्द्र पर चित्त केन्द्रित बना रहा तो वह ध्यान हो गया। जब हम ध्यान करते हैं तब प्रारम्भ मे धारणा होती है। एक बिन्दु पर धारणा होते-होते चित्त उस पर एकाग्र बन जाता है, तब ध्यान हो जाता है। यद्यपि ध्यान का ही एक अंग है धारणा। जब धारणा पुष्ट होती है तब वह ध्यान में परिणत हो जाती है। एक सूत्र है – धारणा को बारह से गुणा करो, वह ध्यान बन जाएगा। ध्यान को बारह से गुणा करो, वह समाधि बन जाएगी।

दृष्टान्त की भाषा

पहले हम धारणा करे, एक स्थान पर चित्त को केन्द्रित करें। जैसे-जैसे वह सघन होगी, ध्यान घटित होता चला जाएगा। दृष्टान्त की भाषा है—दूध है, उसमे जामन दिया, उसमे समय लगता है। जामन दिया गया,

दूध गाढ़ा बन गया, दही बन गया, यह है ध्यान। दूध है चंचलता, जामन है धारणा और दही है ध्यान। चैतन्य केन्द्र का ध्यान धारणा से प्रारम्भ होता है। हम बीस मिनट, आधा घंटा या उससे अधिक उस पर टिके रहें तो वह ध्यान बन जाएगा।

भेद : प्रथम कारण

यह मान लेना चाहिए—प्रेक्षा और विपश्यना में भेद का आदि-बिन्दु है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह भेद का प्रथम कारण है। हम कारण पर विमर्श करें। बौद्ध दर्शन में आत्मा कोई तत्व नहीं है। उसमें आत्मा को देखने की बात नहीं है। जो लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें विपश्यना से वह प्राप्य नहीं हो सकता। विपश्यना से आत्म-दर्शन की आशा पूरी नहीं होगी। जो आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उनके लिए चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा करना जरूरी है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के जिन-जिन स्थानों पर चेतना सघन रूप में केन्द्रित है, उन-उन स्थानों पर ध्यान करना। यदि हम चैतन्य केन्द्रों पर लंबे समय तक ध्यान करेंगे तो चेतना की अनुभूति जल्दी होगी।

मर्म स्थान : चैतन्य केन्द्र

आयुर्वेद के अनुसार शरीर मे बहुत-से ऐसे मर्मस्थान हैं, जहां चोट लगते ही आदमी मर जाए। कण्ठ एक मर्मस्थान है। यदि उस पर गंभीर चोट लगे तो आदमी तत्काल मर जाए। सुश्रुत संहिता में ऐसे सौ से अधिक मर्मस्थान बतलाए गए हैं। इन मर्मस्थानो को चैतन्य केन्द्र कहा जा सकता है।एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर की पद्धति मे सात सौ विन्दु (Points) खोज लिए गए हैं। चेतना के ये सारे केन्द्र हमारे शरीर में हैं। यह समुद्र या नदी के पानी की गहराई है। इन केन्द्रो पर ध्यान करेंगे तो चेतना को पकडने वहुत मदद मिलेगी। यह चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग उसी दर्शन या व्यक्ति को मान्य हो सकता है, जो स्पष्टतः आत्म-दर्शन की भावना रखता है।

प्रेक्षाध्यान : मौलिक अवदान

प्रेक्षाध्यान पद्धति मे अनेक स्वतन्त्र प्रयोग भी विकसित किए गए हैं। लेश्याध्यान, अनिमेष प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के

विशेष प्रयोग आदि-आदि प्रेक्षाध्यान के अपने मौलिक अवदान हैं। एक प्रेक्षाध्यान शिविर में अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। केवल लेश्याध्यान के पचासो प्रयोग विकसित किए जा चुके हैं। विभिन्न चैतन्य केन्द्रों पर विभिन्न रंगों के साथ प्रेक्षा के जो प्रयोग विकसित हुए हैं, वे किसी भी पद्धति में प्रचलित नहीं हैं, प्राप्त नहीं हैं।

सन्दर्भ : स्वाध्याय और जप

यह एक सचाई है—सब व्यक्तियों की रुचि एक समान नहीं होती, क्षमता एक समान नहीं होती। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं, जो ध्यान को पकड ही नहीं पाते। उन्हें प्रारम्भ में जप का प्रयोग करवाया जाता है। जो जप को पकड़ लेता है, वह ध्यान में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। विपश्यना में मंत्र का जप और स्वाध्याय करना निषिद्ध है। प्रेक्षाध्यान में स्वाध्याय का महत्त्व भी स्वीकृत है। आसन-प्राणायाम, जप आदि से साधना का क्रम शुरू होना चाहिए। यह साधना का आदि-चरण है। साधना का अग्रिम चरण है—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा और लेश्याध्यान।

सन्दर्भ: अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का सहवर्ती प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के सारे प्रयोग चिन्तन के प्रयोग हैं। ध्यान में चिंतन का समावेश होना भी जरूरी है। विचय ध्यान की पूरी प्रक्रिया चिन्तनात्मक ध्यान की प्रक्रिया है। जो बदलाव चाहते हैं, उनके लिए अनुप्रेक्षा और संकल्प का प्रयोग करना जरूरी है। पश्चिमी वैज्ञानिक सजेशन और ऑटो-सजेशन के प्रयोग करवाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र मे वे प्रयोग काफी सफल हुए हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग सजेस्टोलॉजी के प्रयोग हैं। यह सुझाव के द्वारा आदतों मे परिवर्तन लाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्रेक्षाध्यान का यह विशिष्ट प्रयोग है।

अपना-अपना दृष्टिकोण

प्रेक्षाध्यान पद्धति का समग्र आकलन करने पर जो निष्कर्ष प्रस्तुत होता है, वह यह है—प्रेक्षाध्यान एक सर्वांगीण और समृद्ध पद्धति है। यह किसी भी पद्धति का अनुकरण नही है। कभी-कभी प्रेक्षाध्यान पद्धति की समालोचना करते हुए कहा जाता है—कुछ इधर से ले लिया, कुछ उधर से

ले लिया और एक विकृत पद्धति का निर्माण कर दिया गया। कुछ लोग यह भी कहते हैं—सब कुछ विपश्यना से ले लिया, केवल नाम बदल कर 'प्रेक्षा' कर दिया। प्रेक्षा में सब-कुछ वही है, जो विपश्यना मे है। एक तथाकथित भगवान् ने भी यही कहा—सब-कुछ हमसे लिया, केवल नया नामकरण कर अपने नाम से प्रचारित कर दिया। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।

दृष्टिकोण एकांगी नहीं है

हमारा दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। एकांगी दृष्टिकोण से किसी बात को पकड़ा नहीं जा सकता। हमारा दृष्टिकोण रहा—जैसे स्वास्थ्य के लिए सन्तुलित भोजन होना चाहिए वैसे ही साधना के प्रयोगों में भी सन्तुलन होना चाहिए। शरीर, प्राण और मन को साधने वाले प्रयोग तथा चेतना को विकसित करने वाले प्रयोग—दोनों का सन्तुलन होना चाहिए। प्रेक्षाध्यान हमारे इसी दृष्टिकोण की निष्पत्ति है। यह आश्चर्य है कि हम किसी की आलोचना में नही जाते फिर भी पता नही, कुछ वीतरागता की बात करने वाले साधक प्रेक्षाध्यान की आलोचना में क्यों उलझे हुए हैं?

विकसमान पद्धति

सच तो यह है – श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग बहुत लम्बे समय से चल रहे हैं। गोयनकाजी पहली बार बैंगलोर में मिले थे। उससे पूर्व कई ध्यान शिविर भी आयोजित हो चुके थे। हम विकासशील पद्धति मे विश्वास करते हैं। प्रारंभ में हम आसन-प्राणायाम, कायोत्सर्ग, श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग करते थे किन्तु किसी पद्धति का विधिवत् रूप से निर्धारण नहीं हो पाया था। जयपुर मे इस पद्धति का नामकरण 'प्रेक्षाध्यान' किया गया। उसके वाद इसमें चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग जुडा। कालान्तर मे लेश्याध्यान के प्रयोग आविष्कृत हुए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग भी वाद मे निर्धारित किए गए। वौद्धो मे अनुप्रेक्षा की कोई व्यवस्था नही है। वौद्ध दर्शन मे दस अनुस्मृतियां हैं पर उसमे वारह अनुप्रेक्षाएं व्यवस्थित नही हैं। इस प्रकार प्रेक्षाध्यान के सारे प्रयोग स्वतत्र वन जाते हैं। उनका विकास भी स्वतत्र ही हुआ है। विकास के अनके चरणो को स्पर्श करते हुए प्रेक्षाध्यान सर्वांगीण पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है और आज भी वह विकसमान वनी हुई है।

प्रेक्षाध्यान और निर्विचार ध्यान

इस शताव्दी में ध्यान पर विचार करने वाले अनेक मनीषी हुए हैं। अनेक प्रकार के ध्यान विकसित हुए हैं। उन सबमे किसी को गंभीर और एक स्थितप्रज्ञ जैसा कहा जा सके तो श्री कृष्णमूर्ति का नाम लिया जा सकता है। कृष्णमूर्ति ने इस विषय को जितनी गहराई से पकड़ा है, उतनी गहराई तक बहुत कम लोग पहुंचे हैं। ध्यान पद्धतियों के कुछ सस्कर्ता एक प्रकार से प्रचार-प्रसार में रस लेने वाले और राजनीति के परिपार्श्व मे परिक्रमा करने वाले लोग रहे हैं। कृष्णमूर्ति ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होने गहराई का स्पर्श किया है, भीतर गहरे मे पैठ की है।

कृष्णमूर्ति का मंतव्य

श्री कृष्णमूर्ति का मानना था— मन सव जगह व्याप्त है। जहां-जहां मन की व्याप्ति है वहां न ध्यान हो सकता है, न धर्म हो सकता है। मन आत्मा के वारे मे सोच रहा है, ईश्वर के वारे मे सोच रहा है या शराव के वारे मे सोच रहा है। श्री कृष्णमूर्ति की दृष्टि मे इसमे कोई फर्क नहीं है। जहां मन का खेल है, वहां कुछ भी हो सकता है। जहा मन से परे चले जाए, मन का खेल खेलना वन्द कर दे, वहां सत्य उपलव्ध होगा, सत्य की अनुभूति होगी और वह वास्तविक होगी।

अतीत, वर्तमान और भविष्य — सारा मन का खेल है। हम कालातीत हुए विना मन के खेलो से परे नही जा सकते। जव तक काल मे वंधे रहेगे, तव तक मन के खेल खेलते रहेगे। अतीत की स्मृति मन का खेल है। वर्तमान का चिन्तन और भविष्य की कल्पना— सव कुछ मन का खेल ही खेला जा रहा है। मन से परे होने, मनोतीत अवस्था में जाने का अर्थ है कालातीत अवस्था मे जाना। जहां मन समाप्त होता है वहां कोई काल नहीं है। मन नही है तो स्मृति नहीं होगी। अतीत से सवध छूट जाएगा। मन नहीं है तो चिन्तन भी नहीं होगा। हम वर्तमान की पकड़ से

मुक्त हो जाएंगे। मन नहीं है तो भविष्य की कल्पना भी नही होगी। हम भविष्य की कारा मे बंदी नही रहेंगे।

ध्यान की पराकाष्ठा

यह एक दृष्टिकोण है। इसमें काफी गहरे जाने का यत्न किया गया है। यह आत्मा की स्थिति है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जब व्यक्ति आत्मानुभूति के क्षण मे चला जाता है, आत्मा तक चला जाता है, तब न चिन्तन रहता है, न स्मृति और न कल्पना होती है। जो व्यक्ति वीतरागी या ज्ञानी बन गया, वह कभी स्मृति, कल्पना और चिन्तन नही करता। यह स्थिति साक्षात्कार की है। जहां दर्शन या साक्षात्कार हो जाए, सत्य के साथ सीधा सम्पर्क हो जाए, वहां तीनों काल समाप्त हो जाते हैं। केवली के लिए अतीत और भविष्य क्या होगा? कैवल्य कालातीत स्थिति की उपलब्धि है।

विचार की भूमिका

निःसंदेह यह ध्यान की पराकाष्ठा की स्थिति है। हम इस पर प्रेक्षा ध्यान की दृष्टि से विचार करें। हम अनेकान्त की दृष्टि से विचार करते हैं इसलिए किसी पक्ष को गलत नहीं कह सकते किन्तु उसे एक पक्ष ही मान सकते हैं। ध्यान का एक पहलू यह हो सकता है, किन्तु उसका दूसरा पहलू नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता। साक्षात्कार की भूमिका मे व्यक्ति सीधा चला जाए, यह सबके लिए संभव नहीं है। शक्ति और क्षयोपशम का तारतम्य इतना है कि विचार की भूमिका भी एक नहीं बन पाती। कृष्णमूर्ति ने सब-कुछ विचार की भूमिका से देखा। हम भावना की भूमिका को भी छोड़ नही सकते। विचार को पैदा कौन करता है? विचार अपने आप पैदा नहीं होता। भाव और मन — दोनों जुडे हुए हैं। भाव प्रभावित होगा तो मन प्रभावित हो जाएगा।

भाव और मन

इसमे कोई संदेह नहीं है कि जो मन एक क्षण पहले अच्छा सोचता है, वह दूसरे क्षण मे बुरा भी सोचने लग जाता है। इस स्थिति मे मन का अस्तित्व कहा रहा? हवा बहती है। यदि हम कहे— हवा ठण्डी है तो सापेक्ष सत्य होगा। थोडी-सी गर्मी आएगी, हवा गर्म हो जाएगी। यदि

हम कहें— हवा गर्म है तो यह भी सापेक्ष-सत्य होगा। हवा फिर ठण्डी हो जाती है। हर मौसम के साथ हवा का रूप वदलता रहता है। वह कभी गर्म हो जाती है, कभी ठण्डी हो जाती है। गर्मी होती है तो व्यक्ति ऊनी वस्त्र भीतर रख देता है। सर्दी अधिक होती है तो ऊनी वस्त्र वाहर निकाल लेता है। हवा अपने आप में न ठण्डी है और न गर्म। मन की भी यही वात है। मन न अपने आप में अच्छा सोचता है, न वुरा सोचता है। जैसा भाव जागृत होता है, मन की क्रिया वैसी ही वन जाती है। अच्छे भाव का प्रवाह आता है तो मन अच्छा सोचने लग जाता है। वुरे भाव का प्रवाह आता है तो मन वुरा सोचने लग जाता है। हम केवल मन को न पकडे, विचार को न पकड़े। मन और विचार का स्तर सतही है। अन्तर का जो स्तर है, वह कुछ और है।

अमन की भूमिका

श्री कृष्णमूर्ति ने भी मन को दो भागों में विभक्त किया है। एक है वाहरी मन, दूसरा है छिपा हुआ मन। जव तक हम वाहरी मन को पकड़ेंगे तव तक कुछ नही होगा। जव छिपा हुआ मन पकड़ में आ जाएगा तव हम भावना के स्तर पर पहुंच जाएंगे। इस स्थिति में पहुंचने पर ही प्रेक्षा की वात समझ मे आ सकती है।

प्रेक्षाध्यान मे निर्विचार ध्यान सर्वथा सम्मत है। हमारा लक्ष्य है— निर्विचार को उपलव्ध होना, मन से अमन की भूमिका मे चले जाना। अमन शव्द प्रेक्षाध्यान मे वहुत व्यवहृत हुआ है। यह आगम-सम्मत शव्द है। जैन आगम स्थानांग सूत्र में दो स्थितिया वतलाई गई हैं— एक है मन की स्थिति और दूसरी है अमन की स्थिति। मन कोई स्थायी तत्त्व नही है। वुद्धि हमारा स्थायी तत्त्व है। जव-जव हम मन की भूमिका में चलते हैं तव दोनो प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। अच्छा विचार भी आ सकता है, वुरा विचार भी आ सकता है। जव हम अमन की भूमिका मे चले जाते हैं तव आत्मा की सन्निधि मे चले जाते हैं। वहां पूर्ण अप्रमाद और एकाग्रता की स्थिति वनती है।

निर्विकल्प चेतना और प्रेक्षा

विचार से निर्विचार की स्थिति तक पहुंचने का एक प्रश्न होता है। हम

एक साथ विचार से निर्विचार में कैसे चले जाएंगे? किसी व्यक्ति में यह शक्ति हो सकती है कि वह ध्यान मे बैठे और विचार समाप्त हो जाए। सबके लिए यह संभव नहीं है। समाधान यही है— जब भी हमारे मन में बुरा विचार आए, हम अच्छे विकल्प की ओर अपना ध्यान मोड दें, कुछ ही देर में बुरा विकल्प समाप्त हो जाएगा। हम बुरे विकल्प को अच्छे विकल्प में बदल दें लेकिन यह ध्यान निरन्तर बना रहे— विकल्प से निर्विकल्प स्थिति तक पहुंचना है। जब तक देखने का अभ्यास नहीं होता, विचार-मुक्त स्थिति का निर्माण संभव नहीं बनता।

देखना और सोचना— दो तत्त्व हैं। हम मनस्वी हैं। इसलिए सोचना जानते हैं पर देखना नहीं जानते। प्रेक्षाध्यान का मतलब है देखना। जब देखेंगे तब साक्षात्कार होगा। जब सोचेगे तब बौद्धिक तर्क पैदा होंगे। जहां वस्तु के साथ सीधा सम्पर्क होता है, वहां देखना होता है। जितने झगड़े हैं, विचारो के झगड़े हैं। साक्षात्कार में कोई झगड़ा नहीं है। विवादों की मूल जड़ है सोचना-विचारना।

प्रेक्षाध्यान : निर्विचार ध्यान

इस सारे परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर जो निष्कर्ष आता है, वह यही है— मन के खेलों से परे चले जाना ही ध्यान है। जब हम आत्मा के सन्निकट चले जाते हैं, मन की भूमिका समाप्त हो जाती है। जब तक हम मन की भूमिका पर जिएंगे तब तक लाभ में खुशी और अलाभ में शोक उत्पन्न होता रहेगा। यह स्थिति तब समाप्त होती है जब हम मन से अमन की भूमिका मे चले जाते हैं। यह सचाई है— जितने प्रभाव होते हैं, सारे मन पर होते हैं। मुद्गशैल पाषाण पर कोई प्रभाव नही होता। जो अप्रभावित अवस्था है, वह अमन की अवस्था है। इस अवस्था को उपलब्ध होने का श्री कृष्णमूर्ति ने जो दर्शन प्रस्तुत किया है, वह प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण है। समान लक्ष्य की ओर ले जाने वाली इन दोनो पद्धतियो का प्रायोगिक क्रम एक नही है। इतना अन्तर होते हुए भी लक्ष्य की अवधारणा मे जो साम्य है, वह प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान के क्षेत्र मे विशिष्ट एवं अलौकिक उपलब्धि के लिए उत्प्रेरित करता है।

प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान

मूल्य है उपयोगिता का

हमारी दुनिया में जितने भी उपयोगी साधन हैं, उनकी संख्या मे वृद्धि हुई है। यह नियम है—जो भी अच्छी चीज हुई, उसकी संख्या मे वृद्धि होती चली गई। यह आज से नही, आदिकाल से चला आ रहा नियम है। अनाज भी कई प्रकार के बढ़े हैं, फल भी कई प्रकार के बढे हैं, कपडे भी कई प्रकार के बनते जा रहे हैं। लक्ष्य एक है—भूख मिट जाए, सर्दी-गर्मी से बचाव हो जाए। लक्ष्य एक होने पर भी प्रकार अलग-अलग बन जाते हैं और उनके अलग-अलग निर्माता-संस्कर्ता हो जाते हैं। ध्यान भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिस दिन मनुष्य ने ध्यान करना सीखा, उसे कुछ मिला। उससे महसूस हुआ—ध्यान उपयोगी है, मूल्यवान् है। जब मूल्य होता है तो उसके साथ उसकी अर्थवत्ता भी बढ़ जाती है। जब कभी ध्यान का प्रचलन हुआ तब उसकी एक ही शाखा रही होगी। धीरे-धीरे उसकी अनेक शाखाएं चल पड़ी। आज सैकडों-सैकड़ों ध्यान की पद्धतियां चल रही हैं।

भावातीत ध्यान

ध्यान की एक शाखा है भावातीत ध्यान। संक्षेप मे इसे टी.एम. कहा जाता है। इसके संस्कर्ता महर्षि महेश योगी हैं। वे अमेरिका आदि अनेक देशो मे रहे हैं और इसका बहुत प्रचार किया है। प्रचार के साथ एक विशेष बात यह की—इस ध्यान पद्धति को वैज्ञानिक परीक्षण मे लगा दिया। वैज्ञानिक परीक्षणो के परिणाम भी आए। काफी साहित्य भी लिखा गया।

हम प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान – इन दोनों पद्धतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। भावातीत ध्यान का वैज्ञानिक साहित्य मे कहा

है किन्तु इसके मूल स्वरूप को बताने वाला साहित्य बहुत कम है। इसके प्रशिक्षकों की संख्या काफी है। अनेक भावातीत ध्यान के प्रशिक्षक प्रेक्षाध्यान के शिविरों में भी महीनों तक रहे हैं। उनसे बात करने पर पता चला—भावातीत ध्यान में एक मंत्र का प्रयोग कराया जाता है। यह बीस मिनट का प्रयोग होता है। मन्त्र की एक निश्चित विधि है। उसका जप करते-करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है, भावना से अतीत होकर गहरी एकाग्रता में चला जाता है। भावातीत ध्यान के संदर्भ में इसके अतिरिक्त कुछ भी जानने को नहीं मिला।

कठिन है शून्य को जानना

मन्त्र जप के प्रयोग का नाम रखा गया है भावातीत ध्यान। भावातीत को निर्विकल्प ध्यान भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है—क्या जप द्वारा यह संभव है? जप केवल उच्चारण ही नहीं है। जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते हैं तो उसे विराम देने की जरूरत होती है। हम उच्चारण से जप शुरू करें और उसे विराम देते चले जाएं। इस स्थिति में हो सकता है—एक नमस्कार मन्त्र गिनने में एक मिनट लग जाए, दो मिनट लग जाए। जितना विराम देंगे, अन्तराल बढता चला जायेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण होता है शून्य रहना। खाली रहने वाली बात समझ मे आए तब जप ठीक होता है। भरे हुए को जानना कठिन नहीं है। कठिन है शून्य को जानना। हम श्वास को भी देखते हैं। श्वास भीतर गया, वह बाहर आने वाला है। श्वास आने और जाने के बीच के अन्तराल को (शून्य को) पकड़ें। यह मर्म की बात है।

भावातीत चेतना : समाधि

ध्यान के हर क्षण में शून्य को पकडना बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया विश्राम लेती है। उस विश्राम के क्षण को पकडना महत्त्व की बात होती है। ध्यान और जप के सन्दर्भ मे भी यही बात है। जप का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है खाली रहना। हम जितना अन्तराल देना सीखेंगे उतना ही भावातीत ध्यान सधता चला जायेगा। व्यक्ति भावातीत बनता है अन्तराल के कारण। जैसे-जैसे जप आगे बढ़ेगा, अन्तराल आगे बढ़ता चला जाएगा। एक बार मन्त्र जपा और पांच सैकण्ड बिल्कुल निर्विकल्प

रहें। यह अवस्था बढ़ती चली जाए, जप भावातीत हो जाएगा। एक समय ऐसी स्थिति आती है—शब्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है। यही है भावातीत ध्यान। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। पहले शब्द और विचार का आलंबन लिया जाता है, वह निर्विचार में बदल जाता है, शब्द और विचार छूट जाते हैं, केवल तन्मात्र रह जाता है, अर्थ की अनुभूति रह जाती है। हम प्रेक्षाध्यान में अर्ह का जप करवाते हैं। जप करते-करते 'अर्ह' शब्द छूट जाता है, 'अर्ह' का अर्थमात्र रह जाता है, व्यक्ति समाधि में चला जाता है। यही भावातीत ध्यान है, हमारी भावातीत चेतना है।

जप का महत्त्व

प्रेक्षाध्यान में जप सम्मत है, अस्वीकृत नहीं है। एकाग्रता के लिए जप का प्रयोग बहुत जरूरी होता है। जप और भावना—दो नहीं हैं। इसे तन्मयध्यान भी कहा जा सकता है—साध्यमय हो जाना, साधक और साध्य का भेद न रहना। यह गुण-संक्रमण का सिद्धान्त है—ध्येय को अपने आप में संक्रान्त कर देना। अगर हम गरुड का ध्यान करें तो स्वयं मे गरुड की अनुभूति करे। जिसका ध्यान करे, अपने आपमे उस स्थिति का अनुभव करना, तन्मय ध्यान, तद्रूप ध्यान, समापत्ति या भावना है। ये भावना के प्रयोग हैं। 'तद् जपः तदर्थभावनम्'। अर्ह का जप करते समय अर्हमय हो जाना, यह भावना है और यही जप है। इसमे वह क्षण भी आ सकता है कि अपरिमित आनन्द आने लग जाए, शक्ति अपरिमित जाग जाए और हमारा परिणमन वैसा होने लग जाए।

शब्द की शक्ति

प्रेक्षाध्यान मे जप का यह प्रयोग भी कराया जाता है। शब्द और अशब्द— ये दोनो पद्धतिया जिस ध्यान में नही होती, हमारी दृष्टि मे ध्यान की वह पद्धति पूर्ण नही है। शब्द हमारा बहुत विकास करने वाला है। शब्द के अभाव मे विकास रुक जायेगा। शब्द या मन्त्र [illegible] है। कबीर ने मन्त्रों का बहुत प्रयोग किया है। मन्त्र निर्माता जानता है कि किन शब्दों का गठन होना चाहिए? मन्त्र मे शब्द का अर्थ गौण होता है केवल शब्द की शक्ति होती है। गठन का आधार [illegible] है, [illegible]

अमुक-अमुक शब्द मिलकर किस प्रकार का प्रकंपन पैदा करेगे, इस आधार पर शब्द सरचना संगठित होती है। सारी ध्वनि-चिकित्सा प्रकपनो के आधार पर चलती है। प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ मे भी ध्वनि-चिकित्सा के बहुत से प्रयोग किए गए हैं। जहां हजार दवाइया काम नही करती वहां एक शब्द काम कर जाता है।

भावातीत ध्यान : अनुप्रेक्षा

शव्दो का गठन, प्रकपन और भावना—तीन का योग बनता है और जप शुरू हो जाता है, व्यक्ति भावातीत स्थिति में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप अनुप्रेक्षा के साथ चलता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक प्रकार है। स्वाध्याय ध्यान का आदि सोपान है। ध्यान और अनुप्रेक्षा का योग है। प्रेक्षा में जो सचाइयां मिलती हैं, उनको जीवनगत बनाना है तो आवृत्तियां करनी होगी। आवृत्ति करते रहने से मन पर उसका संस्कार होना शुरू हो जाएगा। शव्द की महिमा का प्रभाव हमारे भीतर तक पैठा हुआ है। हम सारे अर्थो को शब्द के माध्यम से ही जान रहे हैं। इसलिए शब्द- शक्ति से जुड़े प्रयोग मृहत्वपूर्ण बन जाते हैं। मन्त्र जप की साधना के सन्दर्भ में प्रेक्षाध्यान की एक पद्धति अनुप्रेक्षा और भावातीत ध्यान – दोनों की एक दृष्टि से तुलना कर सकते हैं।

व्यक्ति

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

हिंसा और अहिंसा शब्द कब सामने आए? यह इतिहास की खोज का विषय है। हिंसा और अहिंसा की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही चली आ रही है। दो परंपराएं बन गई—हिंसा की परंपरा और अहिंसा की परम्परा। समाज मे कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिंसा का भी समर्थन किया है। युद्ध और शस्त्रों के बारे में बहुत विशद विवेचन किया गया है और उनके उपाय भी सुझाये गए हैं। दूसरी ओर ऐसे भी लोग हुए हैं, जिन्होंने युद्ध-वर्जन, निःशस्त्रीकरण एवं हिंसा के विरोध के लिए अतिसूक्ष्म चिंतन प्रस्तुत किया है।

अहिंसा के विचारक

अहिंसा का सिद्धान्त बौद्धिकता पर नहीं, अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। अन्तर्दृष्टि जागे बिना अहिंसा की बात भी समझ में नही आ सकती, उसका विकास भी संभव नहीं है। यह सारा इन्द्रिय चेतना से परे का विषय है।

अहिंसा की परंपरा में अनेक बड़े-बडे साधक और महात्मा हुए हैं। इन दो शताब्दियो मे अहिंसा के दो विशिष्ट विचारक, चिन्तक, या तत्त्ववेत्ता हुए हैं। एक हैं आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं महात्मा गांधी। आचार्य भिक्षु राजस्थान में जन्मे और महात्मा गांधी गुजरात मे। आचार्य भिक्षु जैन धर्म के संस्कारों में पले-पुषे और महात्मा गांधी वैष्णव धर्म के संस्कारों में। आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी दोनों ही वैश्य थे। दोनों की बुद्धि और परख बहुत तीव्र थी। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के बारे में जितना लिखा, उतना शायद एक हजार वर्षों मे भी किसी ने नहीं लिखा होगा। दूसरी ओर गांधी ने भी जितना अहिंसा पर काम किया, उतना आचार्य भिक्षु को छोड़कर शायद और किसी ने नहीं किया होगा। दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं।

हरिभाऊ उपाध्याय का मत

हरिभाऊ उपाध्याय ने एक पुस्तक की समीक्षा में लिखा – "आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के संदर्भ में भूमिका-भेद को निकाल दें तो दोनों एक बिन्दु पर आ जाते हैं। भूमिका-भेद का अर्थ है – महात्मा गांधी राजनीति के क्षेत्र में काम कर रहे थे और साथ में अहिंसा की नीति को अपनाए हुए थे। अहिंसा उनके लिए एक नीति नहीं, एक धर्म था। गांधीजी ने लिखा है–अहिंसा कांग्रेस के लिए एक नीति हो सकती है पर मेरे लिए वह एक धर्म है। आचार्य भिक्षु का क्षेत्र कोरा अध्यात्म का क्षेत्र था इसलिए उनके समक्ष अहिंसा धर्म ही था, यह निर्विवाद है।

साधन-शुद्धि का प्रश्न

आज मार्क्सवाद ने अहिंसा के संदर्भ में एक बहुत बडा प्रश्न उभारा है। मार्क्स ने कहा – साध्य को पाने के लिए अगर अच्छा साधन मिलता हो तो ऐसा साधन अपनाया जाए किन्तु अगर अच्छे साधन से साध्य न मिलता हो तो जैसे-तैसे अशुद्ध साधन से भी साध्य को पा लेना चाहिए। अगर हमें शोषण को मिटाना है तो मजदूरों का शासन स्थापित करना होगा और यदि वह सीधी तरह से उपलब्ध न हो तो उसे हिंसा के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति के क्षेत्र में भी एक प्रश्न खड़ा हो गया–साधन की शुद्धि और अशुद्धि का। गांधी का आग्रह था–साध्य और साधन – दोनों शुद्ध होने चाहिए। साम्यवाद का अभिमत बन गया–साधन अशुद्ध हो तो भी चल सकता है। यह साध्य और साधन की चर्चा इस शताब्दी में बहुत लंबी चली। इसका यदि मूल स्रोत खोजें तो वह आचार्य भिक्षु के दर्शन में मिलता है।

हृदय परिवर्तन और अहिंसा

साधन-शुद्धि के इस प्रश्न को सबसे पहले आचार्य भिक्षु ने उठाया। उन्होंने कहा–शुद्ध साधन के बिना अहिंसा कभी नहीं हो सकती। साध्य अच्छा हो तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए। बल-प्रयोग से अहिंसा नहीं हो सकती। हृदय परिवर्तन के बिना अहिंसा नहीं हो सकती। प्रलोभन और बल-प्रयोग–ये दोनो हिंसा को मिटा सकते हैं पर अहिंसा को नहीं ला सकते। अहिंसा के लिए एक मात्र साधन है हृदय परिवर्तन। जो व्यक्ति

हिंसा कर रहा है, उसका मानस बदल जाए तभी अहिंसा संभव है। आचार्य भिक्षु ने साध्य और साधन की शुद्धि के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे—आचार की चौपई, अनुकंपा की चौपई आदि। इन ग्रंथों मे आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि की गंभीर और सूक्ष्म चर्चा की है। उन्होने लिखा – अशुद्ध साधनों से कभी भी शुद्ध साध्य को नहीं पाया जा सकता। यदि साधन अशुद्ध है तो साध्य भी अशुद्ध हो जाएगा। यदि इस परिप्रेक्ष्य मे से हम आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी को निकाल दें तो मार्क्सवाद के सामने टिकने वाली इतनी स्पष्ट चर्चा शायद कही नही मिलेगी। इस कोण से देखें तो आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी एक विन्दु पर आ जाते हैं।

हिंसा हिंसा है

गांधी के सामने एक प्रश्न आया— किसान बन्दरों को खेती मे भगाते हैं और कभी मार डालते हैं। आप उसे क्या कहेंगे? अगर न भगाएं तो खेती का नुकसान होता है। गांधी ने कहा – बन्दरो को भगाना या मारना अनिवार्य हिंसा मानकर क्षम्य भले ही माना जाये पर वह अहिंसा तीन काल मे भी नही हो सकती। गांधीजी ने स्पष्ट कहा – तीन काल मे हिंसा हिंसा ही रहेगी। हम उसे इस आधार पर क्षम्य भले ही मान ले कि इनके बिना समाज का काम नहीं चल सकता। आचार्य भिक्षु ने यही स्वर सामने रखा था पर उसका काफी विरोधी हुआ। आचार्य भिक्षु ने कहा – अनिवार्य हिंसा भी हिंसा है। चाहे युद्ध करना पडे, जीवन को चलाने के लिए हिंसा करनी पडे, खेती को बचाने के लिए हिंसा करनी पडे। अपरिहार्य कोटि की जितनी हिंसा है, वह सारी की सारी हिंसा ही है, उसे अहिंसा कभी नहीं कहा जा सकता।

समान चिन्तन

महात्मा गांधी और आचार्य भिक्षु दोनो के चिन्तन और शब्दावली में कोई अन्तर नही है। ऐसा लगता है – आचार्य भिक्षु की शब्दावली का प्रयोग गांधी ने किया और गांधी की शब्दावली का प्रयोग आचार्य भिक्षु ने किया। वस्तुतः जो बात प्रज्ञा मे से निकलेगी, उसमें मतभेद नहीं होगा। बौद्धिकता में मतभेद होता है। जहां मन है वहां द्वैत भी होगा विकल्प होगा, जहां मन नहीं, सत्य है वहां कभी भी दो विचार हो नहीं सकते। मन और सत्य

में यही अन्तर है। मत होता है माना हुआ और सत्य होता है जाना हुआ। अनुभव के क्षेत्र में कभी द्वैत नहीं रहता।

प्रश्न धर्म की कसौटी का

गांधीजी ने सत्याग्रह, स्वावलंबन और व्रत—इन तीनों पर बहुत बल दिया। आचार्य भिक्षु के सामने व्रत के सिवाय कुछ नही था। उनके सामने धर्म की कसौटी थी—संयम, व्रत। आचार्य भिक्षु की भाषा है – जहां-जहां व्रत, वहां-वहा धर्म, जहां-जहां अव्रत वहां-वहां अधर्म। गांधीजी ने जो कसौटी प्रस्तुत की, वह इस कसौटी से कुछ भिन्न है। गाधीजी ने दो कसौटियां अपनाई—संयम और सुखवाद। जिससे समाज को सुख मिले, वह भी धर्म है इसीलिए उन्होने सुखवादी धारणा को भी मूल्य दिया। बछडा तडप रहा था। गांधीजी ने कह दिया – गोली मार दो। बेचारा दु.ख पा रहा है, इसके दुःख को मिटा दो। यह सुखवादी दृष्टिकोण भी बराबर काम करता रहा है, इसीलिए सामाजिक कार्यो को धर्म के साथ जोडने में गाधी का जो योग रहा है, उसका कारण यह सुखवादी दृष्टिकोण रहा।

कोई किसी को न मारे

मैने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी – 'अहिसा'। वह पुस्तक गांधीजी के पास पहुची। उस पर गांधीजी ने अपने हाथ से कुछ टिप्पणिया लिखी। गांधीजी ने लिखा – आचार्य भिक्षु कौन हैं? अहिसा की ऐसी व्याख्या मैंने आज तक कभी नहीं पढी। उस पुस्तक पर ऐसी पाच-सात टिप्पणियां थीं। पढकर ऐसा लगा – अहिसा के प्रति वे बहुत जिज्ञासु थे। जब सर्वोदय कार्यकर्ता मिश्रीमलजी सुराणा गाधीजी से मिले तब उन्होने गाधीजी से आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो की चर्चा की। महादेवभाई देसाई और गाधीजी से हुई वह चर्चा बडी मार्मिक चर्चा है। प्रश्न आया – माकण (खटमल) या बन्दर को मारने का प्रश्न आए, तो क्या करे? गाधीजी ने कहा – यदि ऐसा प्रसग आया तो मै अपने आपको इन दोनो से बचा लूगा। मैं चाहूगा कि कोई किसी को न मारे। आचार्य भिक्षु ने भी यही कहा – 'रांका नै मार धींगा नै पोखे' – बडे-बडे लोगों को पोसने के लिए गरीबो को सताया जा रहा है।

अल्प हिंसा या हिंसा का अल्पीकरण

जो व्यक्ति अहिंसा पर विचारेगा, चिन्तन करेगा, लिखेगा, वह आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पर पहले सोचेगा, चिन्तन करेगा। अहिंसा के सदर्भ मे इन दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करना जरूरी है। तेरापथ मे इस विषय पर काफी अध्ययन हुआ है। आचार्य भिक्षु के सामने प्रमुख सिद्धान्त था— अल्प आरभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा का। समाज मे रहने वाला प्राणी पूर्ण अहिंसा को नही अपना सकता पर उसे हिंसा का अल्पीकरण अवश्य करना चाहिए, परिग्रह और इच्छा का अल्पीकरण करना चाहिए। सर्वोदय के संदर्भ मे एक प्रश्न आया। हमने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त के आधार पर लिखा—यह शब्द रचना ठीक नही है कि अल्प हिंसा वाला समाज अच्छा है। इसको इस प्रकार बदल दिया जाना चाहिए—समाज मे हिंसा का अल्पीकरण अच्छा है। अल्प हिंसा, इस शब्द रचना मे हिंसा का समर्थन है, 'हिंसा का अल्पीकरण' इस शब्दरचना मे अहिंसा का समर्थन है। हिंसा का अल्पीकरण करना अहिंसा की दिशा मे प्रस्थान है।

समस्या है केन्द्रीकरण

गाधीजी ने जो नीति अपनाई, वह तीन बातों पर आधारित थी— विकेन्द्रित सत्ता, विकेन्द्रित अर्थनीति और विकेन्द्रित उद्योग। जहा सत्ता, अर्थ और उद्योगो का केन्द्रीकरण बढता है वहां शोषण और अहिंसा को बढावा मिलता है। यदि यह विकेन्द्रित अर्थनीति का सिद्धान्त आज देश में लागू होता तो गाव के लोग इतने पिछडे और गरीब नही रहते। एक ओर तीन शब्द हैं— अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा। दूसरी ओर तीन शब्द हैं— विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता और विकेन्द्रित उद्योग। हम इन दोनो शब्दो की अर्थ मीमांसा करे तो कहा जाएगा— ये दोनो अहिंसा की दिशा मे प्रस्थान के पथ हैं। पर कहना यह चाहिए— हिन्दुस्तान के लोगो ने न अचार्य भिक्षु को समझने का प्रयत्न किया, न महात्मा गांधी को समझने का प्रयत्न किया। इन्द्रिय चेतना और भोगवादी संस्कृति मे पलने वाला आदमी इस बात को समझने का प्रयत्न करे यह संभव भी नही लगता। यह अनिवार्यता कभी-कभी आती है; तब कभी

हिंसा तीव्र हो जाती है, तब व्यक्ति बाध्य होकर कभी-कभी अहिंसा के बारे में सोचता है। सहजतया आदमी इस संदर्भ में सोच ही नहीं पाता।

व्यक्तित्व निर्माण का प्रश्न

हम आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के संदर्भ में एक व्यावहारिक पहलू पर भी विमर्श करें। आचार्य भिक्षु व्यक्तित्व निर्माण मे बहुत सजग थे। व्यक्तित्व का निर्माण वही कर सकता है, जो छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देता है। हम महात्मा गांधी को देखे। एक ओर राजनीति के संचालन का दायित्व, आजादी के आन्दोलन को संचालित करने का दायित्व, दूसरी ओर सारा ध्यान केन्द्रित था सेवाग्राम और साबरमती पर। आश्रम मे रहने वाले लोगों का जीवन कैसे चल रहा है? उनका चरित्र कैसा है? चरखा कैसे कातते हैं? जीवन-चर्या कैसी है? वे एक ओर राजनीति का नेतृत्व कर रहे थे तो दूसरी ओर नए व्यक्तित्व तैयार कर रहे थे, नए व्यक्तियो का निर्माण कर रहे थे।

ध्यान दें छोटी बातों पर

आचार्य भिक्षु के परम शिष्य मुनिश्री हेमराजजी गोचरी गए, भिक्षा मे दाल लेकर आए। आचार्य भिक्षु ने देखा, पात्र मे उडद, मूंग, चना आदि की दाले मिली हुई है। आचार्यश्री ने कहा— सब दाले मिलाकर क्यो लाए? मुनि हेमराजजी ने कहा— यह तो मिलता मेल है, पचमिसाली दाल होती ही है। आचार्य भिक्षु ने कडा उलाहना दिया— कोई साधु बीमार है, उसे मूग की दाल ही देनी है और तू मिलाकर ले आया? मुनि हेमराजजी खूटी तानकर सो गए। आहार का समय आया। सब साधु बैठ गए पर हेमराजजी नही आए। संतों ने आचार्य भिक्षु से कहा— मुनि हेमराजजी सो रहे हैं। आचार्य भिक्षु बोले— हेमडा! दोष मेरा देख रहा है या अपना देख रहा है? तत्काल समाधान हो गया। वे भोजन करने के लिए प्रस्तुत हो गए।

आचार्य भिक्षु बहुत छोटी-सी बात पर भी ध्यान देते थे कि कहीं प्रमाद न हो। जो व्यक्ति छोटी बात पर ध्यान नहीं देता, वह किसी महान् व्यक्तित्व के निर्माण मे सफल नही हो सकता। बांध मे छोटा-सा छेद हो गया। यदि हम यह कहे— छोटा सा छेद हुआ है क्या फर्क पडेगा तो उसका

परिणाम क्या होगा? निर्माण के लिए छोटी-छोटी वातो पर ध्यान देना वहुत जरूरी है।

तत्काल इलाज करें

पुराने जमाने की बात है। वैद्य से एक बीमार ने कहा– वैद्यवर! जुखाम हो गया है, कोई पुडिया दे। वैद्य ने कहा– चला जा यहां से, क्या समझकर आया है? क्या मैं छोटा वैद्य हूं, जो तुम्हें जुकाम की दवा दूं। बीमार आदमी बोला– वैद्यराज! मैं तो बड़ी आशा लेकर आया था। वैद्य ने कहा– मैं तो निमोनिया का इलाज करता हूं। मेरे पास उसकी रामवाण दवा है। कभी निमोनिया हो जाए तो मेरे पास आना। तुम एक काम करो तो आज ही दवा दे दूंगा। तुम्हे जुकाम तो है ही। नदी के पानी मे खूब नहाओ। जव निमोनिया हो जाए तव मेरे पास चले आना। मैं इलाज कर दूंगा।

'जो लोग जुकाम को मिटाना नहीं जानते और निमोनिया का इलाज जानते हैं, वे बड़े भयंकर होते हैं। जो छोटी वात पर ध्यान देना नही जानते, वे लोग ही ऐसी वाते करते हैं। हम निमोनिया होने ही क्यो दे? इसीलिए कहा है– अग्नि, रोग और शत्रु– इनका तत्काल इलाज कर देना चाहिए ताकि ये वढे नहीं। इनके साथ एक वात और जोड दें– मनुष्य का स्वभाव। इसका भी इलाज तत्काल कर देना चाहिए। इस प्रसंग मे आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी की प्रकृति एकाकार हो जाती है। कहा जा सकता है– अहिंसा और व्यक्तित्व निर्माण के क्षेत्र मे आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी इन दो व्यक्तियो ने जो कार्य किया है, उनके लिए समाज और दर्शन का क्षेत्र इनका ऋणी रहेगा और ये दोनो ही व्यक्ति अध्ययन और मनन का विषय वने रहेगे।

आचार्य भिक्षु और टॉलस्टॉय

यह विराट् विश्व और उसकी व्यवस्था कैसी चल रही है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। विश्व केवल हमारी पृथ्वी ही नहीं है। अनन्त आकाश अवस्थित मे हैं, अनंत निहारिकाएं, सौरमंडल और पृथ्विया। कैसे चल रहा है यह विश्व? यह प्रश्न हजारो वर्ष पहले ऋषियों के मन में उभरा था। आज हमारे मन मे भी यह प्रश्न उठ सकता है।

विश्व-व्यवस्था : मूल-तत्त्व

विश्व की व्यवस्था का मूल तत्व है नियम या संयम। विश्व नियम से चलता है, संयम से चलता है। वे नियम मनुष्य के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं। जो सार्वभौम नियम हैं, जागतिक नियम हैं, वे विश्व-व्यवस्था के नियामक हैं। दूसरी बात है— जगत् में संयम है, इसलिए विश्व चल रहा है। हम जिस पृथ्वी पर जी रहे हैं, उसकी बात करे। इस पृथ्वी मे पानी का भाग कितना है, और स्थूल भूभाग कितना है। स्थूल भूभाग बहुत छोटा है। जो है, वह भी प्राय: पानी से घिरा हुआ है। चारों ओर समुद्र ही समुद्र है। मध्य मे एक छोटा सा टुकडा है स्थूल भूभाग का। यदि पानी थोड़ा सा और बढ जाए, समुद्र का जलस्तर चार-पांच मीटर बढ जाए तो पृथ्वी की क्या दशा होगी? लेकिन उसका जलस्तर बढ नहीं रहा है, संयमित है, इसीलिए उसका नाम समुद्र है। संस्कृत मे मुद्रा शव्द का अर्थ होता है मर्यादा। जो मर्यादा सहित है, सयम से युक्त है, वह समुद्र है। समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता। नदी के पास जाने मे खतरा महसूस हो सकता है, पर समुद्र के पास मे कोई खतरा नही होता। नदी का पूर कव आ जाए, इसका पता नही चलता। समुद्र का नियम निश्चित है। ज्वार और भाटे का नियम निश्चित है, जल की वृद्धि और ह्रास का नियम निश्चित है।

नियामक तत्व है संयम

सारा विश्व नियम से चल रहा है। यह अलग बात है कि व्यक्ति अपने

असयम से ओजोन की छतरी को तोड दे और परा-बैंगनी किरणें बरसनी शुरू हो जाए। अन्यथा प्रकृति अपने नियम से चलती है। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है— विश्व की व्यवस्था का नियामक तत्व है — संयम। इसीलिए हम उन व्यक्तियो को आज भी याद करते हैं, जो संयम के प्रवक्ता हुए हैं। सयम के प्रवक्ता इस दुनिया के मान्य व्यक्ति हुए हैं। असंयम का जीवन जीने वाले, असयम की बात करने वाले अनगिनत व्यक्ति हुए हैं, जिनका लोग नाम तक नही जानते हैं। जो जो संयम के प्रवक्ता हुए हैं, उन्हे मानव जाति सिर पर उठाए हुए है। वह उनकी चरण रज को पवित्र मानकर कर पूजती है।

संयम के दो प्रवक्ता

आज मैं सयम के दो प्रवक्ताओ की चर्चा करना चाहता हूं। एक हैं— आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं — महात्मा टालस्टाय। आचार्य भिक्षु राजस्थान मे जन्मे और टालस्टाय रूस मे। दोनो ही महान् विचारक और संयम के महान् प्रवक्ता थे। टालस्टाय गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी थे। आचार्य भिक्षु जैन मुनि बने, मुनित्व का उन्नयन किया। उनके संयमजीवन की एक ही कसौटी थी और वह थी संयम। संयम के अलावा और कोई बात उनके सामने नही थी।

विकास कैसे?

मनुष्य जाति को अपने विकास के लिए सबसे पहली आवश्यकता है आदर्श की। जिस समाज के सामने कोई आदर्श नही होता, वह कभी भी आगे नही बढ सकता, विकास नही कर सकता। दूसरा तत्त्व है— आदर्श की प्राप्ति का साधन। उस आदर्श तक कैसे पहुंचा जा सकता है? यह जाने बिना विकास संभव नही बनता। तीसरा तत्त्व है— अपना पराक्रम और गति। साध्य, साधन और गति— इन तीनो का योग विकास के लिए जरूरी है।

आदर्श है वीतराग

जैन धर्म मे आदर्श माना गया — वीतराग। इस राग-द्वेष जनित दुनिया मे अगर वीतराग जैसा तत्त्व नियामक न हो तो दुनिया की क्या स्थिति बन [illegible] सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन मे वीतराग को मान्य किया गया [illegible] तीव्र राग-द्वेष और तीव्र असंयम है, इतनी उच्छृंखलता, अराजकता और [illegible]

यदि वीतराग आदर्श नहीं होता तो कैसी स्थिति होती? चारों ओर अंधकार ही अंधकार होता, कहीं प्रकाश दिखाई ही नहीं देता।

आदर्श है वीतराग और उसे पाने का साधन है संयम। कोई व्यक्ति संयम के बिना वीतरागता की दिशा में प्रस्थान नहीं कर सकता। यदि हमारे सामने आदर्श स्पष्ट नहीं है तो हमारी दिशा ही गलत हो जाएगी। गति से पूर्व दिशा का निर्धारण जरूरी होता है। दिशाहीनता से भटकाव की स्थिति निर्मित होती है। यह असंयम का जो भटकाव है, वह दिशाहीनता का परिणाम है। दिशाहीनता को मिटाने का कार्य करते हैं संयम के प्रवक्ता। इसलिए उन्हें विश्व स्थिति का नियामक कहा जा सकता है—

आदर्शो वीतरागोस्ति,
संयमस्तस्य साधनम्।।
संयमस्यप्रवक्तार:,
संति विश्वनियामका:।।

टालस्टाय का कथन

आचार्य भिक्षु का लक्ष्य था मोक्ष की उपलब्धि। सयम और मोक्ष— इन दो शब्दों के बिना आचार्य भिक्षु को समझा ही नही जा सकता। टालस्टाय से पूछा गया— यदि सब लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने लगें तो मनुष्य जाति के नष्ट होने का खतरा पैदा नहीं हो जाएगा? टालस्टाय ने उत्तर दिया— भाई! तुम चिन्ता क्यो करते हो? धार्मिक लोग मानते हैं— मोक्ष जाना है और वैज्ञानिक लोग मानते हैं— एक समय ऐसा आएगा कि सूर्य ठंडा हो जाएगा। दोनो ही दृष्टियो से मनुष्य जाति का समाप्त हो जाना अनिवार्य है। चिन्ता की कोई बात नही है।

बहुत लोग संयम की बात पर तर्क का आवरण डालने का प्रयत्न करते हैं। टालस्टाय के इस उत्तर मे सयम का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित है।

आचार्य भिक्षु की संयम-निष्ठा

हम आचार्य भिक्षु की सयम-निष्ठा को देखे। उन्हें कितनी कसौटियों मे से गुजरना पडा। पहले अपना संयम और इतना कठोर संयम कि देखने वाला प्रकम्पित हो जाए। एक धर्मक्रांति का समय चल रहा था। आचार्य भिक्षु ने वे

सचाइयां प्रकट की, जिन्हें सुनने के लिए जनता मानसिक रूप से तैयार नहीं थी। तत्कालीन समाज आचार्य भिक्षु की उन बातों से विक्षुब्ध बन गया। आचार्य भिक्षु उन कठिन परिस्थितियों में अविचलित बने रहे। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो केवल सत्य की अपेक्षा रखते हैं, और किसी बात की अपेक्षा नहीं रखते। आचार्य भिक्षु भी ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तित्व थे। उन्होने सत्य के लिए जानबूझ कर अनेक कष्टों को झेला। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के स्वयंभू आचार्य बने। आचार्य बनने के बाद जब उन्होंने सत्य की उद्घोषणाएं कीं तब समाज में विद्रोह हो गया। समाज ने उद्घोषणा की— आचार्य भिक्षु को ठहरने के लिए स्थान नहीं दिया जाए, आहार नहीं दिया जाए, पानी नही दिया जाए। आज गरीबी की रेखा के नीचे जो समाज जी रहा है, पांच वर्ष तक वैसी स्थिति बनी रही। दो जून खाने को भी नहीं मिला। आचार्य भिक्षु उपवास करते, संयम और तपस्या का जीवन जीते। इस प्रकार का कठोर जीवन जीना स्वीकार किया लेकिन सत्य और संयम का पथ नहीं छोडा।

धर्म : प्रारम्भ बिन्दु

आचार्य भिक्षु ने धर्म की परिभाषा की— त्याग धर्म, भोग अधर्म। संयम धर्म, असंयम अधर्म। व्रत धर्म, अव्रत अधर्म। धर्म की यह ऐसी सरल परिभाषा है, जिसमें किसी सम्प्रदाय का प्रश्न नहीं है। वीतरागता या मोक्ष की दिशा मे किसी को प्रस्थान करना है तो उसे त्याग, संयम और व्रत को अपनाना ही होगा।

टालस्टाय से पूछा गया— धर्म की वात वहुत लम्वी चौडी है। उसका प्रारंभ कहां से करें? टालस्टाय ने कहा — उपवास से। भगवान महावीर ने साधना के वारह भेद वतलाए। साधना का पहला सूत्र था— अनशन— उपवास।

आहार-संयम के विना वीतरागता या धर्म की बात नहीं सोची जा सकती। सारा असंयम आहार से पैदा होता है। बहुत पहले इस सचाई को पकडा गया— जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन। जब तक आहार का संयम नहीं होगा, इन्द्रिय-संयम, शरीर-संयम या [illegible]-संयम की बात सम्भव ही नहीं है।

प्रतिरोधात्मक शक्ति है संयम

वर्तमान मानव समाज मोक्ष को माने या न माने, वीतरागता को माने या न माने किन्तु उसके लिए एक 'एन्टी बॉडी' का निर्माण करना जरूरी है। केवल राजसत्ता या दण्ड-विधानो के आधार पर समाज को शासित नही किया जा सकता। शरीर में बहुत से जीवाणु भरे पडे है, पर हमारी रोग-निरोधकशक्ति, जैविक शक्ति निरतर बचाव करती है। यदि वह शक्ति कमजोर हो जाए तो व्यक्ति रुग्ण बन जाए। यदि समाज मे संयम की प्रतिरोधात्मक शक्ति न रहे तो समाज कभी स्वस्थ और अच्छे ढंग से नही चल सकता। उस शक्ति को जीवित रखने के लिए धर्म को जीवित रखना जरूरी है। संयम जीवित धर्म है। यदि यह बात समझ मे आ जाए तो आचार्य भिक्षु भी समझ में आ जाएंगे, महात्मा टालस्टाय भी समझ में आ जाएंगे।

आचार्य भिक्षु और रस्किन

सत्य पर किसी का अधिकार नही होता। वह सबके लिए समान होता है। विचार का धरातल भी सबके लिये समान होता है। उसमे देश और काल कही व्यवधान नहीं बनते। किसी भी देश और किसी भी काल मे सत्य का शोध करने वाले और उदात्त विचार करने वाले लोग जन्म लेते रहे हैं। आचार्य भिक्षु मारवाड मे जन्में और जॉन रस्किन जर्मनी मे। किन्तु जब दोनो के चिन्तन को देखते हैं तो आचार्य भिक्षु और रस्किन विचार की भूमिका पर बहुत निकट आ जाते है, क्षेत्रीय दूरी समाप्त हो जाती है।

सर्वोदय का सिद्धान्त

महात्मा गाधी तीन व्यक्तियो से बहुत प्रभावित हुए थे – श्रीमद् राजचद्र, टॉलस्टाय और जॉन रस्किन। जॉन रस्किन की एक पुस्तक पढने के बाद महात्मा गाधी ने सर्वोदय का नाम प्रकट किया। आचार्य समंतभद्र ने सबसे पहले सर्वोदय शब्द का प्रयोग कया था। उन्होने भगवान महावीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ से अभिहित किया। जॉन रस्किन की अन्टू दि लास्ट (Unto the last) नामक पुस्तक से महात्मा गाधी ने सर्वोदय का नाम लिया। रस्किन ने कहा– जो अन्तिम आदमी है, वहां तक तुम सोचो, उस तक पहुचो। आचार्य भिक्षु ने सर्वोदय शब्द का प्रयोग तो नही किया किन्तु उनकी सारी स्थापनाएं सर्वोदय के साथ चलती है। गरीबो का पक्ष लेने वाले विरल व्यक्तियो मे आचार्य भिक्षु का नाम अग्रणी है। रस्किन और गांधी ने केवल मनुष्यो के बारे मे सोचा– गरीबो के प्रति अन्याय न हो। आचार्य भिक्षु का चिन्तन केवल मनुष्यो तक ही नही, प्राणी मात्र के लिए था– किसी छोटे से जीव के प्रति भी अन्याय न हो, अतिक्रमण न हो। रस्किन और आचार्य भिक्षु– दोनो के सामने सर्वोदय का सिद्धान्त रहा है, [illegible] अलग हो सकती है। रस्किन के सामने समाज का प्रश्न था और

आचार्य भिक्षु के सामने जगत् का प्रश्न था। दोनों के फलित मे सर्वोदय होता है।

सोलोमन से प्रभावित

रस्किन एक यहूदी व्यापारी सोलोमन से प्रभावित था। उसके विचार बडे ही मार्मिक थे, सत्यपरक थे। उसके विचार थे — सबकी भलाई मे ही हमारी भलाई है। सबकी भलाई सोचे तभी हमारी भलाई हो सकती है। सबको छोड़कर केवल अपनी भलाई की बात कभी संभव नहीं हो सकती। यह था सोलोमन का चिंतन। सोलोमन का दूसरा विचार था कि जो आदमी धन कमाने के लिए गरीबो को सताता है, वह अन्त मे संताप भोगेगा। यह नैतिकता का विचार था। उसका तीसरा विचार था — अमीर और गरीब— दोनो को समान समझो। इन विचारो का प्रभाव रस्किन पर पडा और उसने अपने लेखों में सोलोमन के विचारों को बहुत महत्त्व दिया। रस्किन ने अपनी जो स्थापनाए की, उस भूमिका पर उसने चिन्तन किया और चिन्तन का निष्कर्ष 'अन्टू दि लास्ट' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया। उस पुस्तक का गांधी जी पर बहुत प्रभाव हुआ।

सबसे बड़ी भूल

रस्किन का एक विचार था कि मनुष्य बहुत भूले करता है। सबसे वडी भूल यह करता है कि वह आदमी को मशीन मानकर उससे काम लेता है। उसके साथ स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार नहीं करता। आचार्य भिक्षु ने भी इस सचाई को पकड़ा। जब तक आदमी-आदमी के साथ स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार नही करेगा तब तक समाज या सगठन कभी अच्छा नही चल सकेगा। आचार्य भिक्षु ने अंतिम समय में अपने साधुओं को जो शिक्षा दी, उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र था— सब साधु-साध्विया परस्पर में सौहार्द का भाव रखना, स्नेह और वात्सल्य का भाव रखना। कोई सगठन स्नेह और वात्सल्य के अभाव में अच्छा चल नहीं सकता। जिस सगठन मे स्वार्थ की अनुभूति होने लगती है, उसमे गहराई नही आ सकती। हर आदमी सशंकित रहता है।

धर्मोपदेशक का कर्त्तव्य

व्यवहार का वडा सूत्र है— आश्वस्त करना, विश्वस्त रहना। आचार्य

भिक्षु ने व्यवहारवाद पर बहुत बल दिया। जहां व्यवहार क्लांत होता है, उसमें रूखापन आता है वहां उस संगठन में विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। आचार्य भिक्षु और रस्किन ने ठीक इसी बात पर बल दिया कि किसी भी आदमी को मशीन मान लेना बहुत बडी भूल है। जहां यह माना जाएगा वहां समस्याए पैदा हो जाएंगी। रस्किन की एक बात मुझे बहुत अच्छी लगी। उन्होंने लिखा– एक धर्मोपदेशक, जो सत्य का प्रतिपादन करता है, यदि उसे सत्य का प्रतिपादन करने के कारण कोई मार डाले तो मर जाना कबूल करे, पर वह झूठ बात न कहे। मरते दम तक सत्य का प्रतिपादन करना, यह धर्मोपदेशक का महान् कर्तव्य है। जो बात रस्किन ने कही, आचार्य भिक्षु ने उसे जीया। आचार्य भिक्षु ने सत्य का प्रतिपादन किया। सचाई के प्रतिपादन के लिये सैकड़ो कठिनाइयो को झेला। उन्होंने मरते दम तक सत्य को नही छोडा। आचार्य भिक्षु सत्य का प्रतिपादन करते रहे, कठिनाइयो को झेलते रहे। ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। रस्किन के इस वाक्य ने आचार्य भिक्षु के जीवन मे साकार रूप ग्रहण किया। धर्मोपदेशक अगर भय और प्रलोभन के साथ अपनी बात कहता है तो वह सही अर्थ मे सच्चा धर्मोपदेशक नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने हमेशा सत्य का उद्घाटन किया, भय और प्रलोभन के दबाव से सर्वथा मुक्त होकर किया।

श्रम का महत्त्व

गाधी जी ने श्रम का जो सिद्धान्त सीखा, उसमें टालस्टाय और रस्किन– दोनो मुख्य रहे हैं। रस्किन ने इस बात पर बल दिया कि सही जीवन वही है, जो सादा और श्रम युक्त जीवन हो। बड़प्पन और छुटपन के जो झूठे मानदण्ड समाज मे विकसित हो गये हैं, वे समाज के लिये हितकर नही हैं। आचार्य भिक्षु ने भी श्रम की प्रतिष्ठा कम नहीं की। उन्होंने स्वय तो श्रम का जीवन जीया किन्तु साधु समाज को जो व्यवस्थाए दी, उनमे भी श्रम को काफी महत्त्व दिया। प्रत्येक मुनि के लिए बोझ उठाना, गोचरी लाना, पानी लाना, [illegible] आदि आवश्यक कर दिया। सब मुनि बराबर श्रम करे, ऐसी व्यवस्था आचार्य भिक्षु ने दी इसीलिए तेरापंथ के साधु-साध्विया बहुत श्रमनिष्ठ रहे हैं,

हमारे यहा सबके सब दर्जी है, सबके सब नाई हैं, सबके सब धोबी है। जो श्रम की प्रतिष्ठा आचार्य भिक्षु ने की, उसके संदर्भ मे कहा जा सकता है– श्रम को मूल्य देने के बारे मे जो रस्किन ने सोचा, टालस्टाय ने सोचा, गांधी जी ने सोचा, उसे आचार्य भिक्षु ने पहले ही क्रियान्वित कर दिया था।

स्नेह और सौहार्द भाव

तेरापंथ के निकट रहने वाले लोग धर्म सीखने के साथ-साथ संगठन और व्यवहार को सीखते तो समाज का भी बडा कल्याण होता। श्रम करना अलग बात है और उसे प्रतिष्ठा देना, महत्त्व देना अलग बात है। आचार्य भिक्षु ने उसे मूल्य दिया था।

आचार्य भिक्षु ने कहा– जब तक यह परस्पर स्नेह और सौहार्द की भावना रहेगी तब तक साधु-संस्था तेजस्वी बनी रहेगी। यह सचाई रस्किन के विचारो मे भी उपलब्ध होती है। वस्तुत· अध्यात्म के धरातल पर कोई द्वैत नही हो सकता। इसे हम आचार्य भिक्षु और रस्किन– इन दो महान् पुरुषो के विचारो में उपलब्ध साम्य से जान सकते हैं। हम इनकी अनुभूतियो का अध्ययन करें, हमारा दृष्टिकोण बहुत साफ और प्रशस्त होगा।

जयाचार्य और मार्क्स

इतिहास साक्षी है – दुनिया मे जितने बडे लोग हुए हैं, उन्होने समाज के दु.ख को मिटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे भी कहा जा सकता है—जिन लोगो ने समाज को दु.ख-मुक्त करने का प्रयत्न किया है, वे ही बडे बने हैं। दु.ख है, इस तथ्य को सबने स्वीकार किया और यह प्रयत्न किया—समाज का दु.ख कम कैसे हो? व्यक्ति का दु.ख कम कैसे हो? समाज, राजनीति और धर्म से जुड़े लोगो ने इस दिशा मे बहुत कार्य किया है।

दुःख-मुक्ति के प्रयत्न

इस दुनिया मे अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिन्होने दु:ख-मुक्ति के स्वर को उदात्त किया। ईसा पूर्व पाचवी-छठी शताब्दी मे महावीर, बुद्ध और कन्फ्यूशियस ने दु.ख को मिटाने की बात कही। दु.ख की भाषा और परिभाषा मे भिन्नता हो सकती है पर दु.ख मिटे, इस शब्दावलि मे कोई विमत नही है। महावीर और बुद्ध—दोनो ने दु:ख-मुक्ति का प्रयत्न किया। अन्तर केवल इतना सा था—बुद्ध ने केवल वर्तमान के दु:ख को मिटाने पर अधिक बल दिया और महावीर ने दु:ख के मूल को मिटाने पर अधिक बल दिया। कन्फ्यूशियस का मत था – बुद्धि का विकास हो लेकिन केवल बुद्धि से ही काम नही चलेगा। उसके साथ-साथ भावना का विकास हो, अनुशासन का विकास हो। इससे परिवार मे सुख एव शान्ति का वातावरण बनेगा। परिवार अच्छा बनेगा तो राज्य अच्छा बनेगा। राज्य अच्छा बनेगा तो समाज सुखी एव शान्त होगा।

अनुभव शोषित वर्ग की पीड़ा का

[illegible]

[illegible]

सत्य है – जो लोग व्यापक दृष्टि से देखने वाले होते हैं, वे समाज के दु:खों को कम करने का प्रयत्न करते हैं। इसी श्रृंखला में मार्क्स का नाम लिया जा सकता है। मार्क्स एक ऐसे दार्शनिक और अर्थशास्त्री थे, जिन्होने समाज के निम्न वर्ग के लोगों की पीड़ा का अनुभव किया। उनके दु:ख को देख मार्क्स द्रवित हो उठे। मार्क्स ने इसी चिन्तन मे अपना सारा जीवन खपा दिया–जो निम्न वर्ग के लोग हैं, मजदूर हैं, शोषित हैं, जिनका शोषण किया जा रहा है, उनका दु:ख कैसे समाप्त हो? मिल मालिक और मजदूर का जो वर्ग-संघर्ष चल रहा है, उसमे मजदूर कैसे आगे आएं? कैसे शक्तिशाली बनें? इस दिशा में उन्होंने गभीर चिन्तन-मंथन किया। अनेक कठिनाइयो को सहन किया। रोटी की समस्या से जूझे। गरीबी के कारण उनका लड़का चल बसा। न जाने कितने कष्ट आए लेकिन मार्क्स इसी चिन्तन की क्रियान्विति में लगे रहे।

क्या वह आदमी होता है?

मैं अनेक बार सोचता हूं, जो व्यक्ति गरीबो के प्रति संवेदनशील नही होता, असमर्थ लोगो के प्रति संवेदनशील नही होता, क्या वह आदमी होता है? कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो बहुत समर्थ होते हैं। वे अपने आस-पास दस-बीस या पचास-सौ लोगों का घेरा बना लेते हैं। उससे आगे की बात वे सोच नही पाते। छोटे तबके के लोगों पर उनका ध्यान ही नही जाता। जो शारीरिक, मानसिक या आर्थिक दृष्टि से असमर्थ हैं, उनके प्रति जिसके मन में कोई संवेदना नही जागती, उसमे मानवीय करुणा का स्रोत सूख जाता है।

कार्ल मार्क्स शोषित वर्ग के प्रति संवेदनशील थे। मार्क्स ने उनके दु:ख को कम करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। उन्होने शोषित वर्ग के उत्थान के लिए जो विचार और दर्शन प्रस्तुत किया, उसके आधार पर एक नए दर्शन–साम्यवाद का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी का व्यक्तित्व

जयाचार्य और मार्क्स–दोनो ने उन्नीसवी शताब्दी को अपने चिंतन-मथन मे प्रभावित किया। जयाचार्य का जन्म ईस्वी सन् १८०३ मे हुआ और मार्क्स का जन्म ईस्वी १८१८ मे। केवल पन्द्रह वर्ष का अन्तर।

जयाचार्य के स्वर्गवास का समय है ईस्वी सन् १८८१ और मार्क्स का देहावसान हुआ ईस्वी सन् १८८३ मे। केवल दो वर्ष का अन्तर। जयाचार्य और मार्क्स—दोनो का अस्तित्व काल एक समान रहा है। समकालिक होते हुए भी क्षेत्रीय दृष्टि से इन दोनो महान् व्यक्तियो मे बहुत दूरी है। जयाचार्य हिन्दुस्तान मे जन्मे और मार्क्स यूरोप मे। मार्क्स को अनेक देशो मे प्रवास करना पडा। उन्हें देश से निकाल दिया गया। वे फ्रान्स और लन्दन में भी रहे। मार्क्स का कार्यक्षेत्र था समाज इसलिए उन्होंने आर्थिक भूमिका पर अधिक चिन्तन किया। जयाचार्य का कार्यक्षेत्र था अध्यात्म। उनके सामने साधु-समाज का प्रश्न था। किन्तु प्रयोग की दृष्टि से विचार करे तो जयाचार्य और मार्क्स— दोनो एक भूमिका पर आ जाते हैं। जयाचार्य ने साधु-समाज में संविभाग और समता का प्रयोग किया। मार्क्स ने भी समाज मे समानता और संविभाग का प्रयोग किया। जयाचार्य के समय साधु-समाज मे व्यवस्थाए थी लेकिन जितनी व्यवस्थाए अपेक्षित थी, उतनी नही थी।

संविभाग और समता

आचार्य भिक्षु ने तेरापथ धर्मसंघ को व्यवस्था प्रधान धर्मसघ बनाया। व्यवस्थाओ को बहुत मूल्य दिया। मूल चरित्र है किन्तु आचार की शुद्धि के लिए व्यवस्थाओ को महत्त्व देना भी जरूरी है। यह माना गया — व्यवस्थाए अच्छी होगी, अनुशासन सम्यग् होगा तो चरित्र अच्छा पाला जाएगा। अनुशासन, मर्यादा और व्यवस्थाए नही होगी तो चरित्र की आराधना मे कठिनाई होगी। इस आधार पर आचार्य भिक्षु ने व्यवस्थाओ पर ध्यान दिया। जयाचार्य भी व्यवस्था के प्रति बडे जागरूक थे। जयाचार्य ने धर्मसघ मे संविभाग का प्रयोग किया। छोटा साधु है या बडा साधु है। कम पढा लिखा साधु है या अधिक पढा लिखा साधु है। पर व्यवस्था का जहा प्रश्न है वहा संविभाग होना चाहिए, समता होनी चाहिए। समर्थ साध्वी है या कमजोर साध्वी है किन्तु जहा व्यवस्था का प्रश्न है वहा संविभागिता और साम्य होना चाहिए। अगर अहिंसा के क्षेत्र मे समता नही होगी, संविभाग नही होगा तो क्या हिंसा के क्षेत्र मे [illegible]

साम्यवाद : असफलता का कारण

जब तक ममत्व का विसर्जन नही होता तब तक साम्य और समता की बात नही आ सकती। सविभाग के लिए व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना होता है और उसका सीमाकरण तब तक सम्भव नही होता जब तक ममत्व का अल्पीकरण न हो, विसर्जन न हो। यह सूत्र जयाचार्य और मार्क्स – दोनो के सामने रहा। मार्क्स ने अपनी घोषणाओ मे कहा – साम्यवाद मे शोषण नही होगा। व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होगी। तीसरी बात थी–परिवार नही होगा। यह सूत्र अध्यात्म का है। जब तक ममत्व का विसर्जन नही होता तब तक धर्म के क्षेत्र मे कोई भी व्यक्ति आगे नही बढ़ सकता। इसी सूत्र को मार्क्स ने अपनाया लेकिन जब तक अध्यात्म का आदर्श सामने नही रहता तब तक उसका सफल होना कैसे सम्भव हो सकता है? साम्यवाद फैल भी गया, पनप नही सका। मार्क्स ने इतनी बडी कल्पना कर ली पर साथ मे धर्म को नहीं जोडा, अध्यात्म को नही जोडा। मार्क्स ने अन्तिम समय में अपने साथी एजलस से कहा – भाई! हमे धर्म और अध्यात्म की बात सोचनी चाहिए थी पर हम इतनी उलझनो मे फंसे रहे कि इस दिशा में सोच ही नहीं पाए। अगर साम्यवाद की व्यवस्था के साथ अध्यात्म और धर्म को जोड दिया जाता हो व्यवस्था ठीक बन जाती। आज जो बदलाव की बात उठ रही है, गोर्बाच्योव साम्यवाद मे जो नया काम कर रहे हैं, उसकी जरूरत भी नही पडती, साम्यवाद असफल नही होता।

परिवारवाद से मुक्ति

जयाचार्य ने भी परिवारवाद को छुडाया। साधु परिवार छोडकर आता है लेकिन साधु-सस्था मे प्रविष्ट होने के बाद साधुओ का भी एक नया परिवार बन जाता है। जयाचार्य के समय मे ७४ साध्विया थी और सिघाडे थे दस। जिसने जितनी साध्विया चाही, अपने पास रख ली। एक परिवार सा बना लिया। जयाचार्य ने देखा, यह नया ममत्व बनता जा रहा है। एक ही रात मे जयाचार्य ने सारी व्यवस्था को बदल दिया, एक समीकरण कर दिया, पाच-पाच या चार-चार साध्वियो का सिघाडा (ग्रुप) कर दिया। संविभाग हो गया – साधुओ के प्रत्येक सिघाडे मे तीन अथवा दो सन्त और

साध्वियों के प्रत्येक सिंघाड़े मे पाच अथवा चार साध्वियां। एक सामान्य व्यवस्था वन गई।

व्यवस्था के साथ अध्यात्म

मार्क्सवाद के मुख्य दो सूत्र हैं—उत्पादन और वितरण; इन पर समाज और सरकार का अधिकार रहे, व्यक्तिगत अधिकार न रहे। पुस्तकों का, शिष्यों का उत्पादन (संग्रह) करना तथा वितरण करना आचार्य का काम होता है। जयाचार्य ने दोनों वातो को संभाला। उस समय किसी के पास वहुत पुस्तके थीं, किसी के पास कुछ भी नही था। जयाचार्य ने इस ममत्व को भी कम किया। उन्होने पुस्तको का भी संघीकरण (राष्ट्रीयकरण) कर दिया। इस व्यवस्था से ममत्व विसर्जन का भाव प्रवल वना। जव साधु-साध्विया चातुर्मास समाप्त कर आचार्य के पास आते हैं तव सवसे पहले वोलते हैं—'मैं, ये साधु-साध्विया, ये पुस्तक-पन्ने आपके चरणो मे समर्पित हैं। आप जहां रखे, वहां रहने का भाव है।' यह शव्दावलि कहे विना आहार-पानी भोगने का त्याग है। यह सारा किस आधार पर हुआ? इसका कारण यही है—व्यवस्था के साथ अध्यात्म का वल था, निर्ममत्व की साधना और संयम का वल था।

जयाचार्य और मार्क्स : तुलना की आधारभूमि

यह मूलभूत अन्तर है जयाचार्य और मार्क्स मे। मार्क्स ने जहां साध्य-साधन – दोनो पर विचार किया और उसे लागू करने के लिए वल-प्रयोग भी किया, वहा जयाचार्य ने कभी वल-प्रयोग नही किया। वल के द्वारा आदमी को नहीं हांका जा सकता। आदमी यन्त्र नही है। उसे मारा तो जा सकता है, लाठी के वल पर चलाया नही जा सकता। वह चलेगा अपनी इच्छा से। आदमी स्वतन्त्र है। धर्म का क्षेत्र पूर्ण स्वतन्त्रता का क्षेत्र है।

जयाचार्य और मार्क्स – दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करने से जो निष्कर्ष आता है, वह यही है – आदमी को बदलना है तो वह [illegible] के द्वारा ही सम्भव है। उसकी आन्तरिक चेतना [illegible] – यह [illegible]

है। उसके हित को हृदयंगम बनाकर उसे चलाया जा सकता है। जहा बल का प्रयोग होगा वहां दूसरी ही बात पनपेगी। व्यक्ति उसके अनुसार नहीं चलेगा किन्तु उसका मन प्रतिक्रिया से भर जाएगा। अध्यात्म, आन्तरिक चेतना का जागरण, धर्म, संयम, आत्मानुशासन – ये जो सारे शब्द गढे गये हैं, उनका आशय यही है कि परिवर्तन किया जा सकता है और जीवन को बदला जा सकता है। जयाचार्य के जीवन के साथ परिवर्तन का एक लम्बा इतिहास जुड़ा हुआ है। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ में इतनी बातें बदली कि एक तरह से उसमें सौन्दर्य आ गया। परिवर्तन का यह इतिहास जयाचार्य और मार्क्स की तुलना की आधारभूमि प्रस्तुत करता है।